सर्वश्रेष्ठ
रूसी और सोवियत
पुस्तकमाला
अलेक्सान्द्र
सेराफ़ीमोविच
तूफ़ान

सर्वश्रेष्ठ रूसी और सोवियत पुस्तकमाला

अलेक्सान्द्र
सेराफ़ीमोविच

लघु उपन्यास और कहानियां

प्रगति प्रकाशन
मास्को • १६७६

अनुक्रम

अलेक्सान्द्र सेराफ़ीमोविच

अलेक्सान्द्र सेराफ़ीमोविच (पोपोव) सोवियत ललित साहित्य के निर्माताओं में एक हैं।

व्लादीमिर इल्यीच लेनिन उनकी कृतियों की बहुत सराहना करते थे।

"...आपकी रचनाओं ने मुझमें आपके प्रति गहन सद्भावना उत्पन्न की है," लेनिन ने उन्हें लिखा था। "मेरी आपको यह बताने की बहुत इच्छा है कि मजदूरों तथा अन्य सभी के लिए आपका कार्य कितना **आवश्यक** है..."

सेराफ़ीमोविच का जन्म १८६३ में दोन नदी के क्षेत्र में एक मध्यवर्गीय कज़्ज़ाक फ़ौजी अफ़सर के परिवार में हुआ था। स्कूली शिक्षा के बाद उन्होंने पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय के भौतिकी-गणित संकाय में अध्ययन किया। उसके साथ ही वह विधि तथा विज्ञान संकाय के व्याख्यानों में भी जाते रहे और समाजशास्त्र तथा अर्थशास्त्र का अध्ययन भी करते रहे। विश्वविद्यालय में वह भूमिगत क्रांतिकारी दल के एक सक्रिय सदस्य बन गये, जिसके नेता लेनिन के बड़े भाई अलेक्सान्द्र उल्यानोव थे।

ज़ारशाही सरकार ने विश्वविद्यालय के क्रांतिकारी केंद्र का अत्यंत निर्ममता से दमन किया। सेराफ़ीमोविच उस समय चतुर्थ वर्ष के छात्र थे—उन्हें विश्वविद्यालय से निष्कासित करके आर्कटिक महासागर के निकट मेज़ेन ग्राम भेज दिया गया।

सेराफ़ीमोविच ने अपनी पहली कहानी "हिमशैल पर" इसी निर्वासन के समय (१८८९) लिखी थी। "यह जगह दुनिया के दूसरे छोर पर है। यहां बेहद नमी, घना कोहरा और लगभग बारहों मास गहरी बर्फ़ जमी रहती है... उदास, विचारों में खोये मूक उत्तर, चिंतन के लिए विशाल प्रदेश और कड़वी यादों ने मुझे लिखने की प्रेरणा दी... मैं पीड़ा, आंसुओं, ग़रीबी और पददलित लोगों के बारे में लिखने लगा।"

सेराफ़ीमोविच की प्रारंभिक कहानियां (१८९०–१९००) तत्कालीन उदास और क्रूर रूसी जीवन को प्रतिबिंबित करती हैं ("तूफ़ान", "बालू")।

लेकिन सेराफ़ीमोविच का विश्वास था कि रूसी जनता को केवल ग़रीब, गिरी हुई और अंधकारग्रस्त जनता के रूप में दिखाना उचित नहीं है, क्योंकि यह उत्थान की ओर अग्रसर, हर मुसीबत से और मौत से जूझनेवाली जनता है, जो उन बेड़ियों को तोड़ने में समर्थ है, जिनमें वह सदियों से जकड़ी हुई है।

सेराफ़ीमोविच की "मृत्यु-अभियान" तथा "चट्टान के नीचे" कहानियां १९०५ की रूसी क्रांति के बारे में हैं। ये ऐसी कहानियां हैं, जिन्हें ज़ारशाही सरकार ने "अत्यंत ख़तरनाक" घोषित कर दिया था।

१९१७ में उन्होंने "गालीना" लिखी, जिसमें उन्होंने रूसी ग्राम-जीवन में आनेवाली जागृति का वर्णन किया है। १९२६ में उन्होंने "दो मौतें" कहानी लिखी, जो उनकी श्रेष्ठतम कहानियों में एक है। इस कहानी की नायिका एक युवती है, जो १९१७ की क्रांति के योद्धाओं के न्यायपूर्ण युद्ध में उनकी सहायता करते हुए मारी जाती है।

१९२५ में प्रकाशित उपन्यास "लोहधारा" ने, जिसमें उन्होंने रूसी गृहयुद्ध की एक घटना को चित्रित किया है, सेराफ़ीमोविच को विश्वव्यापी ख्याति प्रदान की।

१९३०–१९४० के सालों में लेखक अपने देश की यात्रा करते हुए नये नगरों, नये लोगों, उनकी सिद्धियों और उपलब्धियों तथा शांतिपूर्ण जीवन की विजय के बारे में लिखते रहे।

वह युवा लेखकों को भी अपना काफ़ी समय देते थे। द० फ़ूर्मानोव को अपने उपन्यास "चापायेव" में और नि० ओस्त्रोव्स्की को "अग्निदीक्षा" के लेखन में उन्होंने बहुत महत्वपूर्ण सम्मतियां दी थीं।

"धीरे बहे दोन रे" और "कुआंरी धरती ने अंगड़ाई ली" के भावी लेखक की प्रारंभिक कहानियों को भी सेराफ़ीमोविच ने प्रकाश में लाने में सहायता दी थी। आज के लेनिन तथा नोबेल पुरस्कार विजेता मिख़ाईल शोलोख़ोव ने अपने गुरु के बारे में लिखा है, "मैं सेराफ़ीमोविच का बहुत ही आभारी रहूंगा, क्योंकि उन्होंने मेरे लेखन-कार्य के प्रारंभ में मेरा बहुत ही उत्साह बढ़ाया। वह मुझसे उत्साहवर्धक शब्द कहनेवाले पहले व्यक्ति थे।"

हिटलरी जर्मनी के विरुद्ध सोवियत संघ के महान देशभक्तिपूर्ण युद्ध के समय अपनी ८० साल की आयु के बावजूद सेराफ़ीमोविच युद्ध के मोर्चों पर गये और इस युद्ध में रूसी योद्धाओं की विजयों और उपलब्धियों के बारे में कहानियां और लेख लिखते रहे।

सेराफ़ीमोविच का साहित्य पाठक को उनके निष्ठापूर्ण और सहानुभूतिपूर्ण लेखन का पूरा परिचय देता है। अपनी कृतियों के बारे में वह स्वयं कहते थे:

"...साहित्य में सत्य की कसौटी पर जो खरा न उतरे, उससे मुझे सदा घृणा रही है।"

अलेक्सान्द्र सेराफ़ीमोविच की मृत्यु १९४९ में हुई।

बालू*

१

वह उतना ही बूढ़ा था, जितनी बूढ़ी पनचक्की। पनचक्की का छप्पर एक ओर को झूल गया था और उसके काले पड़े फूस का तिनका-तिनका हवा में डोलता था।

यहां न उजले फेन थे, न लहरों का गर्जन और न पानी का मंद कलकल। यहां थी, तो बस थूनियों के सहारे ज़मीन के ऊपर ही ऊपर सधी नालिका में चमचमाती एक छोटी सी धारा, जो मंथर गति से, विचारों में डूबी-डूबी सी, चिकने-पुराने, काले पड़े चक्के को चलाती रहती, घुमाती रहती। चक्के के पनवक्से धीरे-धीरे नीचे आते जाते और जैसे प्याले में सोते-सोते बुलबुलाते पानी को भर लेते, मानो बलुआ टीले की तलहटी से बूंद-बूंद रिसकर आते इस बहुमूल्य द्रव का एक भी क़तरा गंवाते डरते हों। पहाड़ी की पीली सी बाह्याकृति चिनार और बेंत की हरियाली के बीच से चमकती।

वह बूढ़ा था। उसकी आंखें नम थीं और पपोटे लाल। वह हाथ की ओट कर शांत, सोती हुई सी झिलमिलाती धारा पर निगाह डाल रहा था कि पानी कहीं से चू तो नहीं रहा। नालिका के नीचे की हरी दूब भरी उजली बालू बिलकुल साफ़ और सूखी थी, और वहां चींटियां अपनी ताक़त से अधिक बोझ ढोने में लगी हुई थीं।

पनचक्की के चक्के पर गिरते हुए पानी की आवाज़ चारों ओर के सन्नाटे और बेंत की झुकी डालों के बीच हलके से गूंज रही थी।

यह ऊंघती-ऊंघती सी गूंज न दिन में कभी रुकती, न रात में कभी थमती और बन-अजवायन, घास और ख़ुश्क, गरम बालू की ख़ुशबू से महकती उनींदी-सी मुस्कान से चमकती ताज़ी हवा को शराबोर किये जाती।

छायादार जगहों में छोटे-मोटे कीड़े-मकोड़ों के दल के दल जमा हो जाते और भनभनाते रहते। कभी-कभी तो यह लगता कि सन्नाटे की भी आवाज़ है और गरम दोपहरी के रंग भी बोलने लगे हैं, फूलों की सफ़ेद पंखुड़ियां, फ़ारगेट-मी-नोट के फूलों में छिटका नीला रंग और घनी पत्तियां भी कुछ कहने लगी हैं।

और, इस बोलती सी चुप्पी में पेंडुकियां तक ख़लल न डालतीं, न उनके शोर मचाते चमकीले भूरे झुंड जमा होते।

बहुत ही कम लोग यहां अनाज पिसवाने आते थे, चक्की के सामने एक गाड़ी खड़ी हुई थी। गाड़ी के बम पेड़ों की चोटियों में से दिखते आसमान की तरफ़ उठे हुए थे। गाड़ी की छांव में लेटा एक बूढ़ा किसान खर्राटे भर रहा था। किसान का चेहरा झुर्रियों से भरा था। खुला हुआ घोड़ा मानो अपनी ऊंघ मिटाने के लिए आगे-पीछे पैर पटक रहा था। लेकिन फिर भी मक्खियां उसकी आंखों के कोनों में बरबस अपनी थूथनियां गड़ाये जा रही थीं।

बूढ़ा क़द में लंबा और कुछ उभरे कंधोंवाला था। बालों के कुछ लच्छे उसकी गंजी, दाग़-दगीली खोपड़ी को चारों ओर से घेरे थे। दाढ़ी के बाल सफ़ेद थे–शायद उम्र से, या शायद आटे से।

पनचक्की में न तो पाटों की घड़घड़ाहट होती थी, और न ही लकड़ी के चक्कों के दांतों की खड़खड़ाहट। बस, एक अकेला पत्थर बुढ़ापे से चरमराता धीरे-धीरे घूमता रहता था और उसमें से आटे की हलकी-सी धार गिरती जाती थी। आटा गिरता रहता, गिरता रहता, फिर जैसे कुछ सोचने के लिए ठिठक जाता, और नीचे बक्सा कुछ और की उम्मीद से मुंह बाये खुला का खुला रह जाता। इस बीच में हवा में उड़ते आटे के कण भी बैठ जाते। एकाएक फिर वही सिलसिला चल पड़ता, और सफ़ेद, कांपती हुई दयनीय सी आटे की धार फिर रवां हो जाती।

एक बोरे के पिसने में एक सप्ताह लग ही जाता था और शायद इसी कारण लोगों का वहां कम ही आना होता था। और फिर वहां तक

आनेवाले रास्ते भी कोई अच्छे न थे। जहां-तहां पेड़ों के ठूंठ रुकावट डाले रहते। जहां ठूंठ न होते, वहां जड़ें-झाड़-झंखाड़ और टूटे हुए पेड़ आड़े आ जाते। कहीं-कहीं पत्तियों के अंबार के अंबार रास्ते में आ पड़ते।

बूढ़ा गाड़ी के पास गया और आसपास की हर चीज़ की तरह चमचमाती हुई और सूखी खोपड़ी खुजलाने लगा।

"सो रहा है? ठीक है, सो ले..."

किसान खर्राटे ले रहा था। घोड़े ने पलकें उठाईं, तो मक्खियां ज़रा देर को उड़ गईं। फिर उसने सिर ऊपर उठाया, बुझी-बुझी सी नम आंखें झपकाईं, और आलस से मुंह चलाने लगा। आगे-पीछे पैर पटकने के साथ-साथ मुंह से लटकती घास भी हिलती थी – और वह फिर ऊंघने लगा।

बूढ़ा इधर-उधर टहलता रहा।

पनचक्की में इस समय कहीं कोई काम न था। लगता था जैसे कि जाने कब से यहां सब कुछ अपने-आप होता रहता है – पानी अपने-आप बहता रहा है, काई से ढका चक्का चुपचाप धीरे-धीरे घूमता रहा है, फूल रूप-रस-गंध ग्रहण करते रहे हैं, बेंत में हरी पत्तियां आती रही हैं, और इधर-उधर उड़ती हुई बालू पीली होती रही है और इसमें किसी का कहीं कोई हाथ नहीं रहा है। कभी-कभी भूले-भटके वह बूढ़ा नुकीला हथौड़ा लेकर खुट-खुट करता पाट की टंकाई कर देता था।

वैसे वहां से कहीं और जाने का उसका कभी मन नहीं हुआ, क्योंकि उस जगह और बड़ी नदी के बीच बहुत घना जंगल था। उसमें जहां-तहां झाड़-झंखाड़ थे, पेड़ गिरे पड़े थे और अंधेरा-घुप्प छाया रहता था। ऐसे में कभी किसी की उधर पैर रखने की हिम्मत कैसे हो पाती?

पर यह बूढ़ा दादा पनचक्की की दूसरी ओर प्राय: ही चला जाता था। वहां उजाला था और खुला-खुला लगता था और पीली बालू फैली थी। वह बालू के टीले पर चढ़कर चुपचाप बैठ जाता और अपना गंजा सिर उघाड़कर उस पर धूप गिरने देता था। दोपहरी की छोटी सी परछाईं उसके पैरों के पास सो जाती और दूर तक बिखरा होता बालू का अन्तहीन विस्तार।

हवा रुकी हुई थी, चारों ओर चुप्पी थी, लेकिन उस ख़ामोशी में भी बालू के कण इस तरह हलके-हलके सनसना रहे थे, जैसे उनके मन

में बड़ा दर्द हो और वे बड़े उदास हों। पहाड़ी ढलानों से नीचे खिसकती रेत आवाज़ कर रही थी।

बूढ़ा सामने निगाह दौड़ाता—क्षितिज तक वही धुंधला पीलापन था। वहां, बालू के पार, लोग रहते थे, इस तरह कि जैसे वे बालू पार नहीं, बल्कि समुद्र पार रहते हों।

पर, दादा को वह ज़माना याद था, जब वहां से कोई चार ही वेर्स्ता* की दूरी पर फ़ार्म था। फ़ार्म में कुएं थे, बाग़-बगीचे थे और खुली राहोंवाले और चमकती झीलोंवाले जंगल थे। किसान मैदानों से हरी-भरी घास काटते थे, और मछलियां पकड़ने के लिए झीलों में जाल बिछाते थे।

धूप में बैठे-बैठे बूढ़े को आलस आ जाता। गरम धुंध थर्राती और तपा हुआ क्षितिज कंपकंपाकर छिप जाता। वह जम्हाई लेता और अपने दाढ़ी बढ़े मुंह पर सलीब का निशान बनाता।

२

नदी का पानी कलकल-कलकल कर लोरियां गाता रहा था, सन्नाटा जाग उठने की भरसक कोशिश करता रहा था कि एकाएक एक दिन वहां मीठी झनकार भरी सी आवाज़ सुनाई दी।

बूढ़ा हमेशा की तरह उस दिन भी भोर के पीले-गुलाबी रंग की छाया पीली रेत पर पड़ने के साथ-साथ जागकर काम में लगा हुआ था। उसने पनचक्की का एक चक्कर काटा, बालू के टीले पर बैठकर ज़रा देर आराम किया, एक पुराने बेंत के नीचे रखे चूल्हे पर अपने लिए थोड़ा दलिया तैयार किया, और फिर खड़ा हो गया, न जाने पुरानी यादों में खोया-खोया सा, या पेड़ों के बीच से झांकती धूप सेंकते हुए।

तब ही किसी स्त्री की सुरीली आवाज़ उसके कानों में पड़ी थी। हाथ रखकर आंखों को धूप से बचाते उसने उधर देखा तो सिर्फ़ जंगल से निकलती काली, टेढ़ी-मेढ़ी सड़क ही नज़र आई। उसका कीचड़ कभी का सूख चुका था, और अटपटी जड़ें जहां-तहां जमी-फंसी हुई थीं। पर इन्सान जैसी कोई चीज़ कहीं दिखाई नहीं पड़ी।

---

*१ वेर्स्ता—१,०६६८ किलोमीटर।

"तो अब नींद में डूबे हुए से..."—पेड़ों के पीछे से स्वर गूंजा, उमंग और उछाह से भरा स्वर।

पहिये चरमराये, और घोड़े ने नथुने फड़फड़ाये।

झाड़ियों के बीच कुछ लाल सा और उसके पीछे कुछ सफ़ेद सा हिलता दिखाई दिया। मोड़ पर घोड़े का हिलता सिर सामने आया, फिर बम, इसके बाद बेतरतीब फैली ऊबड़-खाबड़ जड़ों पर कभी इस ओर उछलती, और कभी उस ओर ऊपर-नीचे होती एक चार पहियोंवाली गाड़ी, और अंत में हाथ में चाबुक लिए, सूखी मिट्टी के कड़े ढेलों पर सावधानी से क़दम रखती एक लड़की।

देखने में वह हट्टी-कट्टी थी। चेचकरू चेहरे पर हंसती आंखें थीं। सफ़ेद रूमाल पीछे गरदन में झूल रहा था।

"नमस्ते, दादा।"

"ख़ूब अच्छी रहो, प्यारी, ख़ूब अच्छी रहो!"

"थोड़ा-सा गेहूं पीस दोगे क्या?"

"ज़रूर।"

लड़की ने बोरे के कोनों को पकड़ा ही था कि दादा ने अचानक ही अपना बड़प्पन अनुभव करते हुए उसे एक ओर धकेल दिया:

"क्या कर रही हो? कहीं चोट-वोट लग जायेगी।"

लड़की ने बोरा उठाकर बूढ़े की पीठ पर रखा और उसने पीठ झुकाकर कंधों तक खींच लिया। इसके बाद उसने क्षण भर को अपने थरथराते हुए पैर साधे, और फिर तेज़ी से पनचक्की की ओर बढ़ चला। लड़की की ख़ुशी से झरती सी हंसी पीछे खनकती रही:

"संभलकर, नहीं तो अधभर में दो हो जाओगे!.."

उस गूंजते हुए सन्नाटे और जड़ता के बीच वह हंसी ऐसे अप्रत्याशित और अजीब ढंग से फूटी कि उसने वहां छायी सुस्ती से भरी ऊंघ को उड़ा दिया। और फिर काफ़ी देर तक पत्तियों के झुरमुट में, झूलती हुई हरियाली की छत के नीचे, बेंत के पार और दूर-दूर तक फैले बालू के पसारे में वह हंसी प्रतिध्वनित होती रही। उसकी देखा-देखी बालू पर सुनहली झालर बनाती हुई धूप भी मुसकराने लगी।

"तुम कहां रहती हो, प्यारी?"—गेहूं उंडेलकर गाड़ी की ओर लौटते हुए दादा ने पूछा।

पर लड़की ने अपनी उमंग में जैसे बात सुनी ही नहीं। वह घोड़े के मुंह में से दक्षतापूर्वक लगाम का दहाना निकालने में लगी हुई थी। बोली :

"घोड़े को पानी पिलाना है... कहां पिलाऊं? .. तुम्हारा सारा पानी तो तुम्हारे चूज़े ही पी गये।"

हंसी के ठहाके ने फिर सदा की शांति का तार झनझना दिया। लड़की ने बाल्टी का बचा-खुचा पानी उठाया और फेंक दिया। घोड़े के धीरे-धीरे चपर-चपर करते होंठों से रह-रहकर पानी की बूंदें टपक रही थीं।

बूढ़े की भौंहों में बल पड़े।

"नंगे पांव!"

बेंत के पेड़ों ने फिर लड़की की गूंजती हुई, नई-नई सी हंसी सुनी।

"तो तुम सोचते क्या हो! जंगल में से आते हुए तो पैरों की दुर्गत ही हो गई थी! आख़िर पच्चीस रूबल साल की आमदनी में क्या जूता नसीब हो सकता है? मैं शेवीरिनो में रहती हूं, और इवान पोसत्नी के यहां काम करती हूं।"

"बड़ा हरामी है!"

"हां, है तो।"

"कंजूस, मक्खीचूस भी।"

"फ़ार्म पर काम करनेवालों को भूखा ही मार डालता है।"

"लेकिन भूख तुम्हें तो मुआफ़िक पड़ती लगती है," बूढ़े ने कहा, और लड़की की मज़बूत पीठ थपथपाई।

पर लड़की कूदकर गाड़ी में जा बैठी, और लगामें साध घोड़ा मोड़ने लगी।

"ऐसी क्या जल्दी है? ज़रा रुको न?"

"ज़रा देर हो गई, तो वे सूअर आफ़त मचा देंगे। अच्छा, तो आटा कब तक पिस जायेगा?"

"तुम तो भर आंख देखने भी नहीं देतीं! .. त्यौहार के पहले आ जाना, आटा तैयार रहेगा।"

यह कहने-सुनने तक गाड़ी जंगल में जा पहुंची थी, और पेड़ों के बीच से उस लड़की की आवाज़ सुनाई पड़ी: "कहां जा रहा है उधर? ठूंठ में समा जायेगा क्या! .."

ग्रौर फिर सुनाई दिया :

"दादा, ए दादा, दोब-चश्मे के किधर से जाऊं? मैं दुबारा दलदल में फंसना नहीं चाहती..."

बूढ़ा बहुत समय तक कुछ खो सा गया। वह चलता, फिर ठिठक जाता ग्रौर सिर खुजलाने लगता, जैसे कि कुछ भूला याद कर रहा हो।

"कहो! क्यों कैसा लगा?"

झरता पानी, दुपहरी के चिलकते रंग, नींद सी में गुनगुनाती ख़ामोशी—सब कुछ वैसा ही था चारों ग्रोर। पर दादा को उसका कुछ भी नहीं सुन पड़ता था—ग्रांखों के सामने एक ही तसवीर थी।

वह ग्रपने बालू के टीले पर गया, पर इस बार वहां भी उसे कुछ चैन न मिला। बालू बिखरी पड़ी थी निश्चल, थकी—दिन की तपन झर रही थी पर ग्रदृश्य।

उस रात जैसे किसी ने उसे सोने ही नहीं दिया। दादा घर से निकलकर बाहर ग्राया। चारों ग्रोर सूना गहरा ग्रंधेरा था, सिर्फ़ कभी-कभी जुगनूं चमक जाते थे। जंगल में कहीं दूर एक जलपक्षी की ग्रावाज़ गूंज जाती थी; ग्रचानक ही चोट खाये बच्चे की सी सिसकती ग्रावाज़ में उल्लू की चीख़ कानों में पड़ी।

"धत तेरे की! यह भी क्या!.."

पानी की कलकल ने ग्रंधेरे ग्रौर सन्नाटे में नई ताज़गी भर दी थी, नया ग्रर्थ पिरो दिया था। यह ताज़गी ग्रौर यह ग्रर्थ, दादा की समझ में कुछ नहीं ग्राया, ग्रौर वह वहां खड़ा ग्रपनी खोपड़ी खुजलाता रहा।

"ग्ररे?.. ज़रा सोचो तो!.."

वह ग्रंदर लौटा ग्रौर फिर लेट गया। लेटते ही उसे नींद ग्रा गई, किंतु जैसे किसी चंचल, कोमल हाथ ने फिर उसे जगा दिया। वह फिर बाहर निकल ग्राया।

वही मौन ग्रंधकार ग्रब भी फैली बालू पर छाया हुग्रा था। पर ग्रब सहसा ही यह शांति बूढ़े के लिए ग्रनजानी ग्रौर ग्रपरिचित हो उठी, ग्रौर निश्चल, उमस-भरे, सूखे ग्रंधकार ने पहले की तरह फिर स्मृति में ग्रतीत के वे चित्र नहीं जगाये, जो कभी ग्राकारहीन ग्रौर ग्रस्पष्ट होते ग्रौर कभी हर बारीकी का उभार लिए हुए होते—नींद ग्रौर सपनों में डूबे हुए फ़ार्म, लड़कियों के ऊंचे, बार-बार गूंजनेवाले गीत, शराबख़ोरी

ग्रौर जवानों के लड़ाई-झगड़े, हाड़-हाड़ चूर कर देनेवाला काम, ग्रौर फिर छुट्टियां... पर, ग्रब तो कुछ भी बाक़ी न बचा था सिवाय सन्नाटे, ख़ालीपन ग्रौर ऊब के। ग्रौर बूढ़े ने न देखते हुए भी जो ग्रंधेरे में ग्रांखें गड़ाईं तो यह सारी मनहूसियत ग्रौर रिक्तता उसके दिमाग़ पर सवार हो गई। उसने एक हसरत बेचैनी से तड़पती देखी, ग्रौर इस तड़प के मानी समझे। मन ने कहा—काश कि इस एकाकी जीवन का छूंछापन ग्रौर सन्नाटा किसी की ख़ुशी से नहाई हुई हंसी से भर उठे, गूंजते हुए ठहाकों से बस उठे!

"यह मोह है, प्रभु, क्षमा करना!"—वह धीरे-धीरे ग्रन्दर ग्राया ग्रौर लेट गया। बाक़ी रात पुग्राल पर करवटें बदलते बीती। ग्राख़िर भोर हुई तो पेड़ों की पत्तियां, डालियां ग्रौर झूलता हुग्रा छप्पर सब कुछ ग्रंधेरे से उभरकर ग्राकार लेने लगा।

२

लड़की त्योहार के पहले फिर ग्राई।

ग्रासमान साफ़ था ग्रौर धूप पेड़ों की पत्तियों से छन रही थी कि जंगल गाड़ी के पहियों की चरमराहट ग्रौर किसी लड़की की साफ़ ग्रावाज़ से गूंज उठा। वैसे तो इन ग्रावाज़ों ने ज़रा ग्रजीब ग्रौर रूखे ढंग से निस्तब्धता तोड़ी थी, पर बूढ़े की बाछें ख़ुशी से खिल गईं:

"वह ग्रा गई... ग्ररे, तुम हो!.."

"दादा, बड़ी मुश्किल से यहां तक ज़िंदा पहुंची हूं, यह दुष्ट फिर पेट तक दलदल में धंस गया था..."—वह मुड़ी। चितकबरा घोड़ा ग्राराम से सिर हिला रहा था। लड़की का रूमाल गाड़ी पर लटक रहा था।—"ग्राटा पिस गया?"

"हां, हां... नीचे उतरो, घोड़े को पानी पिलाग्रो ग्रौर ज़रा ग्रंदर ग्राग्रो।"

घोड़े ने पानी पिया तो बूंद-बूंद कर पानी ऐसे टपकने लगा, जैसे कि वह किसी विचार में मग्न हो। पास ही नीले-पीले परोंवाला ग्रोरिग्रोल पंछी कहीं गाने लगा, तो स्वर ऐसे स्पष्ट हो उठे, जैसे कि किसी बांसुरी से ढले चले ग्रा रहे हों।

"ठीक है, मैं घोड़े को खोले देती हूं। वह भी ज़रा आराम कर ले, मैं भी चूर-चूर हो गई हूं। उफ़, बड़ी गरमी है।"

बूढ़े ने उसके धूप में सूखे गालों और काली आंखों पर एक नज़र डाली। चारों ओर की कालिमा के कारण आंखें और भी अधिक कजराई लगीं।

"लगता है कि तुम बिलकुल थक गई हो!"

"ये लोग मुझे मार डालते हैं, इनका बुरा हो!.. इस तरह मुझसे अब और नहीं रहा जाता... न दिन में एक पल को चैन मिलता है, न रात को... भरपेट खाना ही दे दे, तो भी बहुत है, मैं तो हर वक़्त भूखी रहती हूं... इस हफ़्ते घास काटनी पड़ी, तो जैसे हाथ ही कटकर गिरे जा रहे हैं, और खेत से लौटने पर सारी फ़ौज के लिए खाना पकाना पड़ता है।"

पर इन शब्दों से ऐसी ख़ुशी और उमंग टपक रही थी, जैसे कि लड़की हाड़-हाड़ चूर कर देनेवाले काम की शिकायत नहीं, बल्कि कोई बड़ी हंसी-ख़ुशी की बात कह रही हो।

बूढ़े ने समोवार निकाला, और सुलगाया। तांबे का समोवार इतना पुराना था कि हरा पड़ गया था। अब यह ख़ास-ख़ास मौक़ों पर ही काम में लाया जाता था—साल में ऐसे ही कोई तीन-चार बार।

दोनों पुराने बेंत के पेड़ के नीचे एक साथ बैठ गये। समोवार की नली से निकलती आवाज़ बड़ी अच्छी लग रही थी—स्वागत करती सी। जहां-तहां बिखरी धूप बड़ी धीरे-धीरे हिल रही थी। लड़की ने चाय के नौ प्याले पीने के बाद चेहरे पर बहते पसीने को पोंछा, फिर प्याले को उलटा रखा, और कुतरा हुआ चीनी का टुकड़ा उस पर टिका दिया। बूढ़े ने फिर और चाय लेने के लिए हठ किया, तो लड़की ने एक प्याला चाय और ले ली, गरमी से तमतमाये चेहरे से फिर पसीने की बूंदें चूने लगीं।

बूढ़ा बोला :

"तो, बात यह है, प्यारी, कहीं पनचक्की का बांध टूट जाता है, कहीं पनचक्की ही बाढ़ में बह जाती है। पर जहां तक इस जगह का सवाल है, यहां तो मैं ऐसे हूं, जैसे कि यीशु के हाथों ने मुझे साध रखा हो। जाड़ा हो, गरमी हो, बसंत हो, यहां का पानी अपनी एक रफ़्तार से बहता रहता है—एक तरह से रहता है, क्योंकि यह सोते का पानी

है। सूरज तपे तो, और पाला पड़े तो, इसमें कोई अंतर नहीं पड़ता। माना कि अनाज पिसने को ज़रा कम ही आता है, और पिसता भी ज़रा धीरे-धीरे ही है, पर साल में सौ कट्टे, और सौ क्या, कोई डेढ़ सौ कट्टे अनाज तो पीस ही डालता हूं—क़सम से। इससे मेरा खाना-कपड़ा मज़े में चल जाता है।"

"हां, सचमुच यह बड़ी ही अच्छी बात है कि पानी बांध तोड़कर कभी कहीं से फूट नहीं पड़ता, और आख़िर यहां कोई बांध है भी तो नहीं," दांतों से कट करके चीनी का टुकड़ा खाते हुए वह बोली, "लेकिन यह जगह है बहुत मनहूस सी और उबा देनेवाली। है क्या यहां? बस बालू और जंगल, और कहीं कुछ नहीं... इन्सान तो कहीं दिखाई ही नहीं पड़ता।"

"मनहूस? उबा देनेवाली? ऐसा कैसे लगा तुम्हें?"

बूढ़ा उत्तेजित हो उठा और उसकी सफ़ेद भौंहें कपाल तक चढ़ गईं: "पैसा जेब में हो, तो ऊबने की भला क्या बात! मेरी जान, टका हो पास में, आदमी कभी ऊब नहीं सकता। पैसा हो तो हर जगह मज़ा ही मज़ा है। और लोग तो अनाज पिसवाने आते ही रहते हैं, एक नहीं तो दूसरा, दूसरा नहीं तो तीसरा। जब लोग आते हैं तो हज़ार तरह की बातें सुनाते हैं, गांव में कहां क्या हो रहा है, शहर की कैसी-क्या ख़बरें हैं, सभी कुछ सुनने को मिल जाता है उनसे!"

"जैसी यह यहां है न, ऐसी ही एक पनचक्की मेरे चाचा की थी नदी के किनारे..."

"ऊब! .. नहीं, ऊब की क्या बात! ऊब लगती है जब पेट ख़ाली हो, भूख लगी हो... और, मैं तुम्हें देखता हूं, तुम्हारी क्या हालत हो गई है? पैर हैं कि जगह-जगह कट गये हैं..."

"और, सो भी कैसे? ख़ून तक निकलने लगा है... क्या खेतों के आरपार, क्या जंगल में, क्या कीचड़-दलदल में, हर जगह मैं नंगे पैर जाती हूं।"

"यही होता है जब आदमी की जेब में फूटी कौड़ी भी नहीं होती... और, हां, फ़ार्म पर आख़िर कितना कमा लेती हो तुम? ज़िंदगी भर इसी तरह भिखारिन सी बनी रहोगी—है कि नहीं? .. ऐसे में तुमसे शादी-ब्याह कौन करना चाहेगा?"

इस तरह की कोई बात किसी ने उससे पहली बार की थी। सो, धूप से भरे दिन की शांत स्निग्धता, घास की पत्तियों और बालू पर जगह-जगह झालर की कोर लगाती परछाइयां, किसी बड़े विचार में डूबे पानी का मंद कलकल और दादा के स्नेहभरे शब्द सबने मिलकर उसके अन्तस्तल को छू दिया।

उसने लंबी सांस ली, अपना चेहरा पोंछा और निश्चय के साथ अपना प्याला उलट दिया – अंतिम बार।

"धन्यवाद, दादा!"

सहसा ही वह हंस पड़ी:

"अरे, इसमें भी क्या है, जब तक जी सके आदमी जिये, लाज-शर्म किस बात की? अरे, रोटी न हो तो न खाये, फ़ाक़ा कर डाले, कमीज़ मैली हो जाये तो उलटकर पहन ले! .. अच्छा, दादा, नमस्ते, मैं चली अब, नहीं तो फिर गाली सुननी पड़ेगी। मैं कह दूंगी कि आटा तैयार नहीं था, इसलिए ज़रा देर हो गई।"

लड़की ने बम के बंद कसने के लिए मर्द की तरह अपना पैर घोड़े के अंसबंध पर रखा। इसी समय दादा पास आया और बग़ल में खड़े होकर, जुए पर हाथ रखकर कहने लगा:

"सुनो, मेरी बात सुनो! .. तुम बड़ी अच्छी लड़की हो, बात माननेवाली हो, तुम मुझसे शादी क्यों नहीं कर लेतीं?"

ख़ामोशी। केवल पानी की आवाज़, बस। और दो चमकदार, बड़ी-बड़ी आंखें बूढ़े को घूरती रहीं।

"सोच लो, विचार लो," दादा ने जल्दी-जल्दी हकलाते हुए कहा, "सोचो तो कि आख़िर तुम हो क्या? फिर, यह सोचो कि अब मुझे जीना ही कितने दिन है? तुम्हें तो अभी बहुत जीना है, मैं तो उतना जी नहीं सकता, मेरे मरने पर मेरा सब कुछ तुम्हारा ही है, पनचक्की भी, मैं सब कुछ तुम्हारे नाम लिख जाऊंगा, तुम तो फिर अमीर हो जाओगी, तुम्हारी इज़्ज़त होगी, मालकिन कहलाओगी..."

लड़की अपनी बड़ी-बड़ी आंखों से उसे घूरती रही, घूरती रही कि सहसा ही ज़ोर-ज़ोर से हंसने लगी, और हंसने लगी तो हंसती ही चली गई।

जब तक जंगल के बीच से पहियों की चरमराहट सुनाई पड़ती रही, तब तक किसी की हंसी के ठहाके दादा के कानों में गूंजते रहे। उसके

बाद ये दोनों आवाज़ें तो बंद हो गईं, पर कहीं दूर, बहुत दूर से, पेड़ों, डालियों और पत्तों के पार से किसी गीत के स्वर हवा की लहरों पर तिरते दादा की ओर आने लगे। यह थे किसी एक अकेली औरत के कंठ के स्वर। यह कभी धीमे हो जाते और कभी इनमें दर्द भर उठता, तो कभी तेज़ हो उठते, और इनमें उल्लास और उमंग लहरें लेने लगती। ज़रा देर बाद ये स्वर भी जंगल की गहराइयों में खो गये और फिर वही पानी की ध्वनि की मंद कलकल। वही उदासी भरी अलस शांति। फिर वही फूलों और पंखुड़ियों के रंगों का मौन संगीत। फिर कीड़े-मकोड़ों के हवा में इधर-उधर उड़ते झुंड और आवाज़ फिर हवा में तिरती-तिरती आने लगी, लड़की की आवाज़, धीमी सी, हलकी सी, कुछ खोयी सी, मन को खींचती सी। सारे दिन दादा दीवार से टिका सिर खुजलाता रहा।

"आह! क्या बात है! ज़रा सोचो तो..."

४

लड़की जब भी पिसवाने के लिए गेहूं लाती, या आटा लेने आती, सदा बस सिर्फ़ एक तरह की बातचीत होती। बूढ़ा कहता, "तुम बेवकूफ़ हो, अपना सुख नहीं समझती... यह पनचक्की कोई बेकार की चीज़ तो है नहीं, हर दिन कमाई करती है, हर दिन मेरा पेट भरती है... मैं बहुत दिन नहीं रहूंगा, बहुत जिया, तो साल या दो साल, बस, और इसके बाद सब कुछ तुम्हारा ही तो हो जायेगा, तुम मालकिन बन जाओगी। अगर तुमने इस समय यह मौक़ा हाथ से जाने दिया तो ज़िंदगी भर हाथ मलोगी..."

कभी तो लड़की इसे हंस कर उड़ा देती और कभी नाराज़ हो जाती। पर, कुछ समय बाद इस बात को सुनकर हंसी नहीं आती थी, चुपचाप सुन लेती थी। होते-होते एक समय वह आया जब वह बोली,

"अच्छा, तुम्हारी बात मुझे मंज़ूर है... मैं तुमसे शादी करने को राज़ी हूं... मगर एक शर्त पर। शादी के पहले ही सब कुछ मेरे नाम लिख दो..."

लेकिन शादी के बाद पहली ही रात को ही वह हाथ पटकने, दांत पीसने और नफ़रत से मुंह ढककर पड़ने लगी।

"तुम गल गये हो, सड़ गये हो... तुम्हारे बदन से क़ब्र की बू आती है," वह उस पर बरस पड़ी, उसकी आंखों से चिनगारियां फूटने लगीं।

"तो क्या हुआ? तुमने सब कुछ जानबूझकर, आंखें खोलकर शादी की थी, बंद करके तो नहीं, क्यों?.."

लड़की ने अपने को घर में पूरी तरह खपा दिया। उसे यह नयापन बड़ा अच्छा लगता कि वहां जो कुछ है उसका अपना है, और वह जो चाहे, जब चाहे कर सकती है। उसने मुर्गियां पालना शुरू किया, और दो सूअर ख़रीद लिये। पनचक्की पर नई छानी डलवाने की बात को लेकर उसने बूढ़े की नाक में दम कर दिया। बूढ़े ने बहुत इधर-उधर किया, पर अंत में मजबूर हो कर उसे ताज़े फूस से छप्पर छवा देना पड़ा। अब सूरज की किरणें नई पीली छत पर उतरतीं, तो पनचक्की जगर-मगर करती और बहुत ही सुंदर लगती।

अचानक ही पनचक्की बहुत लंबी-चौड़ी हो गई। अब चक्का बिना घड़घड़ाहट के घूमने लगा और अकेली खड़ी पनचक्की की इमारत की छाया ने जंगल, बालू के फैलाव और उसके पिछले जीवन पर एक पर्दा-सा डाल दिया।

सुबह जब वह आंख खोलती, और जंगल से एक दूसरे से होड़ लेते पंछियों के स्वर हवा में तैरते हुए उसके पास आते, तो सबसे पहले वह धूप में दमकती छानी पर एक निगाह डालती। और रात को जब उसकी पलकों पर नींद उतरती तो वह अंधकार में धीरे-धीरे डूबते पनचक्की के चक्के का ध्यान करती। बाद में यह सब धीरे-धीरे सपनों में खो जाता।

होते-होते पनचक्की की हर चीज़ बदल गई। ऊंघते-ऊंघते से आलसी सन्नाटे की जगह अब फ़ार्म के अहाते से आनेवाली ताज़ी, नई, काम में उलझी आवाज़ों ने ले ली थी। अब इधर-उधर मुर्गियां बोलने लगीं, पलते-बढ़ते सूअर अल्लाने लगे और चक्की मालकिन अनाज पिसवाने के लिए आनेवाले किसानों को ज़ोर-ज़ोर से कोसने लगी।

वह सारे घर-बार को व्यवस्थित करने में पूरी तरह जुट गई और

एक दिन क्या एक क्षण भी खोने से डरने लगी। देखते-देखते देख-भाल और चिंता-फ़िक्र के यह दिन भी एकरस हो उठे और न उनमें कोई नयापन ही रह गया। काटे न कटने वाले इन दिनों की नियति धीरे-धीरे घूमनेवाले पनचक्की के चक्के की तरह हो उठी।

५

दिन-प्रतिदिन छंटता धीरे-धीरे जंगल भी घना न रहा—छितरा-छितरा सा हो गया, उदासी से भर उठा, और अब पेड़ों के बिनपत्ता ठूंठ दूर से ही दिखाई दे जाते थे। हर चीज़ झर कर ऐसी वीरान लगने लगी, जैसे कि किसी गहरी अंधेरी बरसात की रात में अकेलेपन से थके किसी व्यक्ति ने आकर सारे खिले रंग पोंछ दिये हों, सारी आवाज़ें घोंट दी हों और फिर अनचाही ख़ामोशी चुपचुप कुछ सुनने सी लगी मानो अभी कुछ होनेवाला है।

दिन छोटे होने लगे थे, पनचक्की की मालकिन खिड़की में बैठी हर समय आनेवाली सरदी के लिए मोज़े आदि बुनती रहती। पनचक्की का काला साया अकसर खिड़की में आकर झांक-झांक जाता।

जल्दी-जल्दी चलती सलाइयों से एक के बाद एक अनगिनत फंदे पड़ते जाते, उनके साथ उसके विचार भी एक के बाद एक अनगिनत आते और खो जाते, आते और खो जाते, जैसे कि इनकी मंज़िल का कहीं अंत ही न हो। आख़िर में पानी के मंद कलकल की भांति एक करुण गीत कंठ से फूट पड़ता, ऐसा कुछ कहने को जो बोलकर न बताया जा सके।

"लड़की, ऐ लड़की... ऐ लड़की!.." होंठ गुनगुनाते हैं।

"...और, उसके नन्हे-मुन्ने से दायें बाज़ू पर एक जन्मचिह्न है, जन्मचिह्न है... उसके बाल सन की तरह उजले हैं और पादरी ने नाम रखा है उसका वान्या..." अंतर सपना देखता है।

"और लोग लड़की को अपने प्रिय से शादी नहीं करने देते..." होंठ गुनगुनाते जाते हैं।

"और वान्या मां की तरफ़ हाथ बढ़ाता है, और उसकी गरदन में झूल जाता है..." सूने हृदय से आवाज़ आती है।

"...और मन के राजा के साथ नहीं, बल्कि बूढ़े के साथ उसका ब्याह कर दिया..."

"...मां-अब्बा!.. और मां हंसती हैं, अब्बा हंसते हैं, अब्बा, घुंघराले बालोंवाले अब्बा..."

उसकी आंखें छलछला आतीं और ख़ुशी से चमकने लगतीं, दीवार की उस तरफ़ बूढ़ा किसी किसान से कहा-सुनी करता होता:

"मैंने तुमसे हज़ार बार कहा कि शनिवार को आया करो, शनिवार को... अगर पानी नहीं है तो मैं तो पानी बन नहीं सकता कि चक्की चले?.."

खिड़की से उदासी, शिकवे, ख़ुशी के सपने और घुंघराले बालोंवाले एक तरुण पति, नन्हे-नन्हे हाथ फैलाये बेटे वान्या, लाल रिबन लगी चोटियोंवाली नन्हीं बिटिया के सपने हवा में तिरते आते। गीत फिर उमड़ चलता, और फिर पतली-पतली सलाइयां हवा में जल्दी-जल्दी चलतीं और फंदे पर लगातार उड़ने लगतीं।

जल्दी ही जाड़ा आया। सारे जंगल पर चांदी की परत चढ़ गई और बालू चमचमाने लगा, भेड़ियों का कभी न ख़त्म होनेवाला विलाप सुनाई देने लगा। बर्फ़ की पतली परत के नीचे पानी बहुत हलके-हलके कलकल करता था। कभी-कभी बर्फ़ के बड़े-बड़े फाहे चक्कर काटते हुए गिरते और खिड़की के बाहर तथा चिमनी में हवा सनसनाती। ऐसे में वे दोनों जल्दी सो जाते, और हर ख़याल से बचते, हर सपने से कतराते।

पर, वसंत आया, तो मन फिर उत्कंठित हो उठा, फिर किसी दूर के अनजाने, घुंघराले बालोंवाले मीत के लिए मन राह देखने लगा, फिर वान्या आंखों के आगे आ गया, फिर चोटियों में लाल रिबन बांधे छोटी लड़की भी साथ ही चली आई।

६

बुढ़ापे में नींद कम आती है और ज़रा सी आहट से उचट भी जाती है।

बीच-बीच में वह जाग उठता है और कान लगाकर सुनने लगता है, पत्नी के धीरे-धीरे सांस लेने की आवाज़ और उसके साथ ही जंगल की

गहराइयों के धीरे-धीरे सांस लेने की आवाज़। वह फिर सो जाता है और फिर कोई फुसफुसाने लगता है, "ओ बुड्ढे, ओ बुड्ढे! .." – फिर उसकी आंख खुल जाती है। वह बाहर जाता है। पानी झर रहा है, पेड़-पत्ते चुप हैं और कोई काली-सी चीज़ ख़ूब बड़ी गेंद की तरह लुढ़क रही है।

उसे लगता है कि उसकी पत्नी चुपचाप कहीं भाग जायेगी और अगर एक बार चली गई, तो फिर कभी वापिस नहीं आयेगी।

यही बात थी कि जब भी कोई किसान किसी कारण रात को वहां रहना चाहता तो उसकी आंखों में भय और आशंका उभर आती। कहता, "अरे, भले आदमी, अपने घर जाओ न... जो नींद अपने घर में आती है, वह दूसरे के घर में नहीं आती... फिर तुम्हारे लिए चारा भी तो नहीं है मेरे पास, दूसरा डर यह भी है कि यहां भेड़िये लगते हैं, कहीं ऐसा न हो कि वे आयें और तुम्हारा घोड़ा खींच ले जायें... घोड़े के लिए कोई बंद जगह नहीं है यहां..."

चांदनी रातों में वह मुश्किल से ही थोड़ा-बहुत सो पाता था। ऐसे ही एक रात उसकी आंख खुल गई और उसने आहट लेने की कोशिश की तो पत्नी की सांस सुनाई न पड़ी। वह बाहर निकल आया।

आकाश में बिखरे बादलों से दूध से धुली चांदनी पेड़ों की डालों से छन कर आ रही थी। चांदनी में नहाये फूल निशा जगत् के जीव से लग रहे थे। पत्तों पर अजीब सी सफ़ेदी छाई थी और पनचक्की की छाया कुछ झुकी सी पड़ रही थी। गढ़ैया का पानी जब-तब चमका, और चक्का बिलकुल अंधेरे में घूमता रहा धीरे-धीरे, उदास मन से, अजीब ढंग से।

पानी छल-छल बह रहा था, खनकता हुआ, कभी-कभी उसमें छोटे-छोटे नीले भंवर झलक जाते थे। बूढ़ा उस समय किसी जादू-नगरी के जादूगर सा लग रहा था।

"अब ज़रा सोचो कि ऐसे में वह जा कहां सकती है! और किस लिए?"

स्थिर बालू की लंबी-लंबी, पतली-पतली पीली-पीली जीभें जंगल में धंसी जा रही थीं। उनकी इस स्थिरता में ही एक अबाध, निरंतर गति छिपी हुई थी, जो चौकन्ने पर ख़ामोश जंगल के दिल में घुसी चली जा रही थी।

बूढ़े ने हर तरफ़ नज़र दौड़ाई—गोदाम में, चिनार के पेड़ों के बीच, पर हर ओर छाया और चांदनी के वही उलझे हुए ताने-बाने, हर ओर सिर्फ़ ख़ामोशी और सूनापन।

वह और खुले में निकल आया। पेड़ों की सघनता कम हो गई थी, और पैरों के नीचे बालू और अधिक चरमरा रही थी। उसकी आंखों के आगे अवास्तविक से गतिहीन जीवन का धुंधला-धुंधला सा विस्तार था।

चांदनी में डूबे बालू के टीले पर झुकी बैठी वह दिखाई दी।

बूढ़ा ठिठका, और उसने अपना सिर झुका लिया। नीले से आलोक में एक आवाज़ आई—पास से ही, पर ऐसी रहस्यमयी सी कि लगता था, कहीं दूर से आ रही हो:

"जून के महीने में रात को लड़कियां फूलों की मालाएं पानी में बहाती हैं... चार साल हुए मैंने भी एक माला गूंथकर लहरों पर डाली थी, पर वह डूब गई... आज शेवीरिनो में मेला है... भीड़ के भीड़ लड़के जमा होंगे, लड़कियां सूरजमुखी के बीज और अखरोट दांतों से कुटकेंगी... हंसी-ख़ुशी होगी... लड़कियां-लड़के एक-दूसरे का हाथ अपने हाथों में लेंगे और, शाम को तमाशा होगा..."

नीली रोशनी थरथराई। क्षितिज पर छलावा देती छायाएं उभरीं और छिप गईं।

"एक बंदर भी वहां होगा, इतना मज़ेदार, बिलकुल आदमी जैसा, और शाम को गांव में नाच होगा... सब कुछ दूर-दूर तक सुनाई पड़ेगा।"

फिर ख़ामोशी छा गई, पर यह ख़ामोशी देर तक रही या थोड़ी देर तक, बूढ़े को कुछ पता न चला। इसी समय ख़ामोशी भंग हुई, बड़े ग़ुस्से से वह चीख़ी:

"जब तुम्हारा दम निकल जायेगा, तो मैं यहां एक दिन भी नहीं ठहरूंगी... पनचक्की या बेच दूंगी या किराये पर उठा दूंगी और यहां से..."

उसने आदमियों की तरह लंबी-लंबी सीटी बजायी और क्रोध से जलती आंखों से उसे घूरने लगी।

उसके बालों से ढंके होंठ हिले। वह कमज़ोर और बूढ़ा था। वह लड़की के शब्दों को सुना-अनसुना करते हुए बड़बड़ाने लगा। उसके मुंह

के आसपास के बाल कांप रहे थे। उसकी आंसू भरी आंखें बालू पर गड़ी हुई थीं।

"हां-आं-आं... अब तो सभी कुछ आया-गया हो गया... क्या बहार थी जब मैं जवान था...बालू की टीलों के पार हमारा फ़ार्म था— फ़ार्म के पीछे बाग़ और बाग़ के पार खेत थे... मुझे आज भी याद है... उस समय हम सब बाग़ में इकट्ठे होते थे, बिस्कुट खाते, वोदका पीते, लड़कियों को इकट्ठा करके ख़ूब जी भर नाचते थे। मेरे पिता के पास घोड़े थे एकदम जंगली से। हम उन्हें जोत लेते, और लड़कियों को गाड़ी पर बैठाकर फ़ार्म की सैर कराते... उन टीलों के पीछे थी झील, जंगल से घिरी झील। झील का पानी साफ़ था, धूप में झिलमिलाता... और, और, पतझड़ के मौसम में हम वहां जाते थे, और भाले से ख़ूब मछलियां मारते थे।"

और देर तक वह बालदार मुंह को हिलाते हुए बड़बड़ाता रहा।

"क्या खाती-पीती ज़िंदगी थी—गाय-भेड़ कुल मिलाकर पूरी तीन सौ, औरतों के गलों में चांदी के सिक्कों की हमेलें।"

वह बड़बड़ाता रहा, बड़बड़ाता रहा, और उसका मुंह बराबर चलता रहा।

उसकी आंखों के आगे नीला प्रकाश थरथरा रहा था। छायाएं आ और जा रही थीं। भेड़ों के दल के दल पास से गुज़र रहे थे। जंगल में झीलें झलकीं। औरतों की हमेलों के सिक्के खनखना रहे थे और ऊपर, धुंधले से आसमान की पृष्ठभूमि में छोटी-छोटी, उजली झोपड़ियों की छानियां आंखों के आगे आ रही थीं।

न, वे तो केवल बालू के ढेर थे, जो चांदनी में नहाकर उजले हो उठे थे।

चिनार के पेड़ों का झुरमुट अंधेरे पिंड सा लग रहा था—ऊपर उठा हुआ, नुकीला और स्थिर।

नहीं, और कुछ नहीं था—बालू के ढेरों की परछाइयां थीं, लंबी-लंबी, सिमटी सी, निर्जीव।

लड़की ने अपना सिर हाथों पर रखा, कुहनियां घुटनों पर टिकाईं, जैसे कुछ देखने को गरदन उठाई, और क्षितिज के भी पार निगाहें

दौड़ाने की कोशिश की, क्षितिज के उस पार छायायें मंडराईं, शेवीरिनो का मेला सामने ग्रा गया, ख़ुशी के ठहाके, हंसी-मज़ाक... उमंगों से भरपूर प्यार-दुलार... ग्रालिंगन करनेवाले, मज़बूत, रूखे हाथ... घुंघराले बालोंवाला सिर...

उसकी पराई, ग्रजनबी सी ग्रावाज़ बूढ़े को सुनाई दी: "क़ब्रगाह की तरह... है ही क्या!.. सभी कुछ सफ़ेद ही सफ़ेद!.."

७

लगता कि जैसे सब कुछ ग्रभी कल की बात है: बहुत दिन तो नहीं हुए, जब जंगल में गाड़ी के पहियों की चरमर सुनाई पड़ती थी ग्रौर लड़की की ग्रावाज़ पेड़ों में होती हुई ग्राती थी, ग्रभी कल, सिर्फ़ कल ही तो...

कभी किसी सूखे पेड़ का ठोकर मारते हुए बूढ़ा कहता:

"इसे काट देना चाहिए!.."

वह परेशानी से फैली-फैली ग्रांखों से बूढ़े को देखती। बिना पत्तों की डालियां ग्रासमान के नीले परदे पर मटमैले रंगों से वीरानी सी तस्वीर ग्रंकित कर देतीं ग्रौर हटती हुई बालू के बीच-बीच में निकली जड़ें ग्रधउखड़ी हालत में जहां-तहां झांकती रहतीं।

बूढ़े से शादी करने के बाद वह ग्रकसर ही यहां ग्राती थी, घनी छाया के नीचे की मुलायम रेशमी हरी घास पर बैठती थी, ग्रौर हर बार ही ऊपर झूलते हरे पत्ते झुककर उसके कानों में कुछ कह जाते थे। यौवन के गुज़रते जाने के कारण वह बहुत डर जाती थी।

तब से ग्रब तक उन्होंने कितने ही पेड़ काटकर गिरा दिये थे, ग्रौर जंगल की सघनता कम होती जा रही थी। ध्यान में ग्राये बिना ही बालू का विस्तार लगातार ग्रौर ग्रनरुके बढ़ता जा रहा था। उसकी जीभें लपलपाती हुई ग्रागे बढ़ रही थीं। हालत यह हो गई थी कि झाड़-झंखाड़ों के बीच बालू, जड़ों-तनों के बीच बालू, ग्रौर फूलों ग्रौर घास के बीच बालू। यानी ग्रनजाने ही जड़ें सूख चुकी थीं, फूल कुम्हला गये थे, घास ग़ायब हो गई थी, चिड़ियां उड़ गई थीं ग्रौर सूने पेड़ ग्रपात हुए उदास से ग्रकेले खड़े रह गये।

फिर ये सभी बातें विस्मृत हो गईं। वे हरे-भरे पेड़ों की घनी छाया में जाकर, घास की पत्तियों पर जाकर लेटते रहे। चहचहाती चिड़ियां पत्तियों के बीच जहां-तहां फुदकती रहीं। इस तरह साल पर साल बीतते गये।

ऐसे में पनचक्की की मालकिन को कई बार लगा कि बूढ़े की आंखें कल सदा-सदा के लिए मुंद जायेंगी—अगर कल नहीं तो एक हफ़्ते में, और अगर एक हफ़्ते में नहीं तो एक महीने में तो मुंद ही जायेंगी। उसने उसकी सांसें कान लगाकर सुनीं, उसके उठने-बैठने, चलने-फिरने में ढीलापन आता देखा, और उसके सिर हिलने और हाथों के थरथराने का मतलब समझा।

समय बीतने पर छप्पर काला पड़ गया। फूस बिखरकर लटकने लगा। केवल पानी हमेशा जैसा था। वह उसी तरह विचारों में खोया रहा, और उसी तरह नींद में डूबे हुए आलसी की भांति मंद गति से कलकल करता रहा।

धीरे-धीरे फ़ार्म के वे सभी स्वर जो कभी अचानक ही कानों को सुन पड़ते थे,—मुर्गियों-मुर्गों की कुकड़ूं-कूं, बत्तख़ों-मुर्ग़ाबियों की कीक, सूअरों की घुरघुराहट और मालकिन की गूंजती आवाज़,—होते-होते वे सब स्वर ढीले पड़ गये, सारा शोरगुल, सारी ज़िंदगी उतार पर आ गई और नींद में डूबे मंद कलकल में खो गई। जैसे कि केवल पानी की आवाज़ ही बस चिरंतन हो।

लगता था अब न वहां कोई आने-जानेवाला था, न कहीं कोई जानवर था, न देखभाल की ज़रूरत थी और न कोई फ़िक्र। वहां थी सिर्फ़ पनचक्की, जिसके ऊपर का छप्पर भी काला पड़ गया था, उसका बिखरा फूस अपलक न जाने कहां नज़र गड़ाये रहता, पनचक्की का चक्का था, धीरे-धीरे चलता-घूमता और पानी था कि चुपचाप बहता, कलकल करता।

८

उदासी से भरे दिन, सूरज की एक किरण नहीं, न रंग, न रूप, हां, यह ज़रूर लगता कि समय बिलकुल व्यर्थ ही गुज़रा जा रहा है, और यह बीता समय कभी वापस नहीं आयेगा।

हर चीज़ जैसे किसी ने निगल डाली। चीज़ों के आकार छिप गये। भंवर बनाती बालू आसमान तक चढ़ती, पर न छू पाने पर निराशा से टूटकर लहराते खंभों की शकल में ढल जाते, और दूर-दूर तक फैलते चले जाते। और फिर हवा में धूल भर जाती, सूरज छिप जाता, क्षितिज अदृश्य हो जाता।

तब ऐसे लगाता मानो सुख के दिन अब कभी न आयेंगे, ख़ुशी मनाने के लिए कोई अवसर न आयेगा, खुली हंसी की आवाज़, यौवन के उत्साह की आवाज़ कभी सुनाई न देगी। अत: उस व्याकुल कर देनेवाली बेचैनी में ऐसा नि:सीम अवसाद था जिसमें कहीं कोई राह भी दिखाई न दे।

धीरे-धीरे पास आनेवाली व्यथा आतंककारी सी बन जाती।

पनचक्की, आसपास के लोग, बेंत के पेड़ और फ़ार्म सभी कुछ उसके सामने नितांत तुच्छ प्रतीत होने लगता था।

ऐसे दर्द जगानेवाले दिनों में मालकिन खीझ और लालसा से भरकर चीख़ने लगती:

"किस काम के हो तुम? .. तुम्हारा मैं क्या करूं? .. तुम्हें उठाऊं कि धरूं? .. तुम्हें कभी कुछ न होगा, तुम ऐसे ही रहोगे! मैं सैकड़ों साल भी तुम्हारे साथ सोती रहूं तो भी नतीजा कुछ नहीं... तुम तो मुझे किसी जवान आदमी से मिला दो, मुझे बच्चे चाहिए... राक्षस!"

बूढ़ा परेशान हो जाता, और आंखें मिचमिचाकर मुसकराते हुए बात टालने की कोशिश करता:

"फ़िक्र न करो... तुम... कोई फ़िक्र न करो... यानी ज़रा इंतज़ार करो... शायद कुछ हो ही जाये..."

वह अपनी आंखें ऊपर करता, और अपने कांपते हुए हाथों से उसे सहलाता, पर पत्नी को बुढ़ापे के सिवाय उसमें कुछ नज़र न आता। उससे फिर क़ब्र की सी सड़ी-गली दुर्गंध महसूस होती।

"अरे सूअर, गाज गिरे तुझ पर... अरे राक्षस, तुझे मौत भी नहीं आती... आख़िर कब तक जिये जाओगे! .."

और वह फूट-फूटकर असहाय सी रोने लगती।

बूढ़ा रहम और परेशानी से भरा इधर-उधर पैर पटकता और माथे पर बल डालकर अपने टूटे स्वर में कहता:

"मैंने हमेशा तुम्हारा भला ही किया है और बदले में तुम क्या देती हो, क्या करती हो? .. ज़रा सोचो तो कि तुम थीं क्या, ऐं? .. और मैं अब जिऊंगा तो कितना जिऊंगा? सब कुछ तुम्हारा ही तो है... अगर मैं अभी अपनी वसीयत फाड़ दूं तो क्या हो तुम्हारा? .. भूखी तड़प-तड़प कर मर जाओगी। समझीं? .."

"मैं मर जाऊंगी... मुझे नहीं चाहिए तुम्हारी पनचक्की, मैं चली जाऊंगी यहां से! .."

और फिर दबी-दबी गहरी सिसकियां उमड़ पड़तीं।

फिर ज़मीन पर बालू स्थिर हो जाते, फिर सुबह होती, और सुबह होती तो सूरज उगता। सूरज बालू के फैलाव पर सोना बरसाता और लम्बी, सुनहरी परछाइयां जहां-तहां फिसलने लगतीं। फिर बत्तखें-मुर्गाबियां हल्के-हल्के की-की करने लगतीं और विचारों में डूबा उदास चक्का घूमने लगता। पनचक्की सदा की तरह टकटकी लगाये जाने क्या देखती रहती।

६

जंगल से जवानों की हंसी-ठिठोली, हंसी-मज़ाक़ की आवाज़ें ऐसे आ रही थीं, जैसे बहुत पहले बीते दिनों की याद।

एक गाड़ी सड़क से मुड़ी, और फिर दूसरी गाड़ी के बराबर चलते नज़र आये दो व्यक्ति—एक युवा और एक युवती।

हंसते-हंसते वे एक-दूसरे को धकेल रहे थे, और उनके चेहरों से ख़ुशी टपक रही थी, जैसे कि न वहां काली पनचक्की हो, न सूखा जंगल, न बूढ़ा पति, न दर्द और न इंतज़ार बिन आस की। न उनकी किसी बात का कोई विशेष महत्त्व था और न उनकी हंसी का कोई ख़ास मतलब। पर, सारा वातावरण इस बातचीत और हंसी से रह-रहकर गूंज-गूंज उठता था। उनकी हर हरकत से यौवन का उल्लास टपकता था, और यौवन की इन अठखेलियों में जो आनंद लहरें लेता वह भी जैसे सर्वथा अबाध और अकारण ही था।

चक्कीवाली के माथे पर बल पड़ गये। उसने चिढ़कर उनकी ओर देखा:

"बहुत हुआ, बंद करो अब अपना यह तमाशा!"

"क्यों, तुझे जलन है, क्यों, बुढ़िया ?"

यह सुनते ही चक्कीवाली का चेहरा ऐसे लाल हो गया, जैसे किसी ने कसकर चाबुक जमा दिया हो। वह ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाने लगी, जिससे सारा जंगल गूंज उठा।

"काम के, न धाम के, निठल्ले कहीं के... यहां क्या ही-ही, ठी-ठी करते फिर रहे हो... तुम यहां काम से आये हो, न कि इस तरह मज़े मारने... तुम्हें और कोई जगह नहीं मिली ?.. मैं मना कर दूंगी, तुम्हारा नाज नहीं पिसेगा, ख़ाली हाथों घर लौटोगे तब देखना, मालिक कैसी ख़ातिर करते हैं तुम्हारी..."

वह लाख चीख़ी-चिल्लाई, उसने हज़ार गाली दी, जी भर के कोसा, पर इस सबसे भी मन की लालसा, निराशा और आशंका कहीं से हलकी न पड़ी।

"बुढ़िया... बुढ़िया... बुढ़िया ! .."

उस दिन उसने जो चीज़ उठाई वही हाथ से छूट गिरी। गालियों की बौछार के मारे बूढ़ा तो हिलते भी डरता था।

बुढ़िया !

हां, वह बूढ़ी हो गई थी...

उसे अपनी ही आवाज़ बदली हुई लगी ; उसे लगा, वह अब मोटी हो गई है, फिर उसने शीशे में मुंह देखा, हां, वह बूढ़ी हो गई है।

हर गुज़रते दिन के साथ मुंह पर एक-एक करके झुर्री पड़ती जा रही थी, एक-एक करके बाल सफ़ेद होते जा रहे थे—हर गुज़रते दिन के साथ बुढ़ापा आता जा रहा था, बुढ़ापा ऐसा जिसमें जवानी नहीं रहती, कोई ख़ुशी की उम्मीद नहीं होती, प्यार, आलिंगन नहीं मिलता, बच्चों की किलकारी नहीं सुन पड़ती...

"ओ-ओ-ओ ! .."

वह गरजी-तड़पी। उसने प्याले चूर-चूर कर डाले, खींच-खींचकर बूढ़े पर फेंके। फिर धीरे-धीरे चुप रहने लगी और कभी-कभी पति को एकटक देखने लगती।

"पागल हो गई हो क्या ?"

उसने पलक भी नहीं झपके ; उसके हाथ-पैर भी नहीं हिले, बस, वह उसी तरह उसे घूरती रही। दयालु बूढ़े का सिर हिलता रहा और वह

डगमगाते क़दमों से इधर-उधर चलता रहा, ऐसे ही जैसे वे लोग जिनका एक पैर क़ब्र में होता है। लेकिन, मिलने के पहले दिन से ही उसकी यही हालत है—तब से कोई फ़र्क़ नहीं आया।

बहुत मुश्किल था—मुश्किल क्या, पहले तो भयानक और बहुत ही कठिन लगा था। उसके हाथ कांप गये थे, पुड़िया ज़मीन पर गिरकर बिखर गई थी। उससे कुछ न किया जा रहा था।

जब बूढ़ा बिना कुछ जाने पुड़िया की दवा को पी रहा था, तो उसका मन हुआ कि वह दौड़कर बूढ़े के पास जाये और कह दे—"थूक दो, उलग दो!"

पर वह बस आंखें फाड़कर बूढ़े की ओर देखती रही।

परन्तु धीरे-धीरे रोज़ देखते-देखते आदत हो गई। वह उसे रोज़-रोज़ पुड़िया देती रही, बूढ़े को आगे धकेलती रही।

बूढ़ा बीमार पड़ गया, उसके लिए पैर घिसटना भी मुश्किल हो गया, वह पुराने पेड़ की तरह चरमराने लगा।

इसी तरह समय भी खिंचता गया, खिंचता गया कि एक दिन अचानक ही बूढ़े का दम निकल गया।

१०

सांझ की बेला हुई—छिपता सूरज बालू को लाल रंग देता, चक्कीवाली ने पति को खाने के लिए बुलाया:

"आओ, खाना खाओ।"

गहरी ख़ामोशी ने उसकी आवाज़ पी ली। जंगल के दूर के पेड़ों की लाल रंगी चोटियों से उसकी आवाज़ की गूंज भी लौटकर न आई।

"अरे, सुनो!"

पानी सदा की भांति कलकल कर रहा था...

चक्कीवाली ने खत्तियों को देखा, घर में इधर-उधर देखा, मुर्ग़ी और उसके बच्चों को बाहर भगाया, और दरवाज़ा बंद किया कि कहीं सूअर अंदर न घुस आयें। इसके बाद वह टीले की ओर गई। बूढ़ा वहां मुंह के बल पड़ा हुआ था, और उसकी धूसर दाढ़ी नरम, सुनहरी बालू में दबी थी और उसकी पतली, जरा-जीर्ण उंगलियां उसे जकड़े हुए थीं।

वह ख़ूब ज़ोर से चिल्लाई, पर उसकी चीख़, उसका विलाप बूढ़े के आस-पास ही गूंजकर रह गया। कुछ ही क़दमों के फ़ासले पर जो बालू हमेशा की तरह स्थिर और बेजान थी, कोई फ़र्क़ नहीं कहीं भी।

"तुम मुझे अकेले क्यों छोड़ गये? .. अब मेरा कौन है? .. अब कौन मेरी रक्षा करेगा? .."

उसके सफ़ेद बाल बिखर गये। उसका झुर्रियों से भरा, फूला चेहरा आंसुओं से तर हो गया और वह बूढ़े पर पछाड़ खाकर गिर पड़ी। बूढ़े की दाढ़ी चेहरे के नीचे से आगे की ओर निकली थी, और उसकी गंजी खोपड़ी ठंडी पड़ने लगी थी। वह उस बूढ़े के लिए तड़प उठी, जिसके साथ रहने की अब उसे आदत पड़ गई थी।

११

लगता था कि जैसे कहीं कुछ भी नहीं बदला है। काला, गीला चक्का विचारों में डूबा-डूबा सा धीरे-धीरे घूमता रहा था, जैसे कि अपने काम के अलावा दुनिया में और किसी से उसका कोई संबंध ही न हो। पानी उसी तरह आवाज़ करता हुआ चक्के पर गिरता रहा था, और पुआल उसी तरह गीला और काला था। पनचक्की को देखकर जीवन में कहीं कोई आस नज़र नहीं आती थी।

साल भर बाद बूढ़े की बरसी के दिन गिर्जे में उसके लिए विशेष प्रार्थना की गई। वहां से लौटकर वह पनचक्की की दीवार के पास की बालू पर आ बैठी, और बहुत देर तक सिसकती रही। उसकी यह व्यथा, ये आंसू बूढ़े की मौत के लिए नहीं थे। पहली बार उसने जाना, सारा जीवन यूं ही एकदम व्यर्थ, नीरस बीता जा रहा था। और अब, जल्दी ही समय आयेगा और सच्चा सुख एक क्षण के लिए भी जाने बिना ही सब समाप्त हो जायेगा। लंबे अरसे में बूढ़े के साथ रहने की आदत हो गई थी, और अब वह भी नहीं रहा। सूखे पेड़ों से भरे उस जंगल में उसे बड़ा अकेला-अकेला और सूना-सूना लग रहा था।

पनचक्की अब भी उसकी ओर अंधी और भारी आंखों से देखती, उसकी मौत सी निगाहें एक पल को भी उसके ऊपर से न हटतीं। इस पर

भी ज़िंदगी के दिन तो काटने ही थे। फिर वही शुरू हो गया, हर दिन सुबह उठना, घर का कामकाज देखना, मुर्ग़ियों को दाना डालना, पनचक्की में नाज उंडेलना और किसानों से बक-झक।

उसने पनचक्की को किराये पर उठाना चाहा, पर बस्ती से, रास्ते से दूर कोई भी रहना नहीं चाहता था। शेवीरिनो, मेले, मेले के खेल-तमाशों, और वहां होनेवाले नाचों में जाने को उसका मन नहीं करता था। जिन लड़कियों को इस समय वहां नाचने का शौक़ था, उनसे उसका दूर का भी परिचय न था, क्योंकि जब वह उनकी उम्र की थी तो उन्होंने इस दुनिया में आंख तक न खोली थी।

उसने एक मज़दूर रख लिया था। वह उसके यहां लटके मुंह और मैले कपड़ों में आया था। वह पनचक्की में सदा एक तरह से घड़घड़ाते पत्थरों के ऊपर सोता था। पर पतझड़ के साथ वह घर के गरम प्रवेश-कक्ष में आ गया। चक्कीवाली उसे बराबर मुट्ठी में रखती, और वह निगाह नीची किये दिन-रात काम करता। मुंह कभी न खोलता। चेहरे पर ख़ुशी की एक रेखा भी कभी नज़र न आती।

पर, एक बार ऐसा हुआ कि उसने आंखें ऊपर उठाईं और बोला:

"मेरा हिसाब कर दीजिये, मालकिन।"

"क्यों? क्या हुआ?"

"मैं यहां से जाना चाहता हूं।"

"कहां जाओगे?"

"मैं शहर में कोई काम देखूंगा... वहां नहीं तो गांव में ही कहीं कोई और काम मिल जायेगा,"—वह उसकी ओर से मुड़ा, और लीकों से भरी सड़क पर दृष्टि दौड़ाने लगा। सड़क जंगल में जाकर कहीं खो गई थी।

"वान्या,"—वह कांपती हुई आवाज़ में बोली—आज उसके स्वर में बड़ी अकुलाहट थी या कुछ कोमलता। वैसे अब तक वह उसे "वान्का" कहकर ही बुलाती रही थी—सो भी बड़े बेहूदे ढंग से—"वान्या, आख़िर कहां जाओगे तुम? मेरे यहां क्या तुम्हें कुछ भी अच्छा नहीं लगता?"

"नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है, पर मैं जाना ही चाहता हूं।"

"अगर तुम यहां रहोगे तो मैं तुम्हारी तनख़्वाह भी बढ़ा दूंगी।"

"नहीं, मैं ऊब गया यहां रहते-रहते।"

उस रात वह उसके पास गई, पर वान्या ने उसे भद्दी-भद्दी गालियां सुनाईं, और उसे वहां से भगा दिया:

"बुढ़िया, कुतिया कहीं की... निकल जा यहां से, और जा जहन्नुम में..."

पर, वह उसे अच्छे से अच्छा खिलाने लगी, अच्छे से अच्छे कपड़े देने लगी और उसका हर तरह ध्यान रखने लगी। उसके लिए हर समय वोद्का रहती। वह उस पर रोब चलाने लगा। फिर वह शांत हो गया, और उसके साथ रहने लगा। चक्कीवाली ने पनचक्की उसके नाम वसीयत तो कर दी, पर अपने वायदे के अनुसार उसके नाम नहीं की।

वह तुरंत ही अपने को पनचक्की का मालिक समझने लगा। उसने चक्की की मरम्मत की। ताज़ा रंदा किये लकड़ी के तख़्तों से पनचक्की के पुराने काले चक्के पर रौनक़ आ गई। यही नहीं, सुनहले ताज़े फूस को बराबर कर छवाई कर दी, तो छप्पर भी फिर से खिल उठा।

१२

लोग पीकर ज़मीन-आसमान के कुलाबे मिलाते, हंसी के ठहाके लगाते, और ज़ोर-ज़ोर से गीत गाते। सारी आवाज़ें जंगली गुलाब के झुरमुट और पत्तों का घेरा चीरती, और झाड़-झंखाड़ों के बीच से गुज़रती इस पार तक गूंज उठतीं।

"अरे, हां... बोलो, न! .. आग लगा दो उसमें! .. थाम लो उसे! .."

नालजड़े लंबे बूटों की धमकों, औरतों की चीख़ों-किलकारियों और नशे में चूर धमाचौकड़ियों का चारों ओर के वातावरण से कोई ताल-मेल न था, वातावरण, जिसमें सब कुछ उखड़ा-उखड़ा सा लगता, जहां सूरज के उदास धब्बे घास पर क्षण-क्षण के लिए चमकते रहते थे और जिस में कदाचित ही हिलनेवाली पेड़ों की चोटियां शायद ही कोई आवाज़ करती थीं।

अगर क्षण भर को भी नशे में मस्त लोगों की चीख़-पुकार बंद होती, हो-हल्ला ख़त्म हो जाता तो पानी की खनक फिर सुनाई देने लगती थी। पनचक्की फिर भी अपलक कुछ घूरती जाती, घूरती जाती। चक्का धीरे-धीरे घूमता रहता, घूमता रहता।

फिर शोर, हंसी के ठहाके, प्यारभरी कहा-सुनी और नशे में धुत्त लोगों के गाने। उनके बूटों की नशेभरी धीमी-तेज़ धमकें जंगल की नीरवता पर छा जातीं, उसकी शांति को भंग कर देतीं और रंग को डूबा देतीं।

चक्कीवाली की चमचमाती आंखें सिमटकर संकरी हो गई थीं, नशे में बिगड़ा उसका चेहरा पसीने से तर था। उसके सफ़ेद बालों की पतली-पतली लटें रूमाल से निकलकर नीचे लटक रही थीं। उसकी मेज़ बेंत के पेड़ों के नीचे थी। मेज़पोश पर खाने की ठंडी चीज़ें थीं। उसके अस्थिर हाथ में वोद्का का गिलास था, और वह झल्लाते सूअर जैसी ऊंची आवाज़ में गा रही थी:

"तो, आओ, पीयें
और नाचें जी भर कर..."

"और, नाचें जी भरकर! .."—उसके पास बैठे आदमी ने ऐसे धीमे स्वर में दोहराया, जैसे उसकी आवाज़ कहीं ज़मीन के नीचे से आ रही हो और अपने नशे में चूर, बिखरे बालों वाले और पसीने से तर सिर को हिलाते हुए वह आगे गाता रहा:

"अगर मौत आ गई,
तो हम सब मर जायेंगे! .."

—मालिक नशे में निकले इन स्वरों में स्वर मिला रहा था। इस समय वह नाचने की कोशिश कर रहा था, पर रह-रहकर उसे खीज आ रही थी, उसके पैर लड़खड़ा रहे थे, कहीं के कहीं पड़ रहे थे।

"...वह मुझे इतना तंग करता था... ज़रा भी चैन नहीं लेने देता था..."—एक नौजवान किसान औरत अपना सिर हिलाते हुए कह रही थी। उसके गालों पर गुलाब खिल रहे थे, और आंखों से भोलेपन के साथ-साथ चालाकी भी टपक रही थी—"जहां तक मेरा सवाल है, मैं घमंडी नहीं हूं... मैं क़सबे की उन औरतों जैसी नहीं हूं... तुम तो जानती ही हो कि वे कैसी होती हैं! .. चेहरे पर ख़ूब लीपा-पोती, रंगी-बनी, ऊपर से देखने में ऐसी जगर-मगर, पर, ज़रा कपड़े उतार दो तब देखो, नीचे कुछ नहीं..."

"हम सब मर जायेंगे..."

"म – र – जा – यॆंगे!" पड़ोसी ने भी कहा।

"म – र – जा – येंगे..." – जंगल से आवाज़ आई।

"म – र – जा – येंगे!.." – मालिक ने भी भारी आवाज़ में कहा।

"तुम लोग खाओ, जी भर खाओ, मौज उड़ाओ, मज़े करो, सभी कुछ इतना अच्छा है, इतनी ख़ुशी है!.. हमारे पास सब कुछ है – और ज़िंदगी भर के लिए काफ़ी होगा। हमारी चक्की ख़ूब चलती है, दिन चलती है, रात चलती है... कोई कमी नहीं है हमारे यहां... ठीक है न, वान्या प्यारे?"

"ज़रूरत से भी ज़्यादा... और हम मर जायेंगे..." – मुश्किल से मुंह टेढ़ा करके मालिक ने अपनी ज़बान से कुछ शब्द कहे, "अरी बुढ़िया, जिस दिन तू मर जायेगी न, उस दिन पहला काम मैं यह करूंगा कि अपने लिए एक जोड़ी शानदार जूते ख़रीदूंगा... पर, ओह... मैं कौन हूं?.. चक्की चलती है... मेरे हुक्म से, मैं एक मज़दूर रखूंगा... मैं तो इस पनचक्की का मालिक हूं, यानी मैं वह हूं जो..."

पर, नशा उतार पर आया और वह धुंध कटी तो फिर जंगल उभर आया, फिर पनचक्की सामने आ गई, और फिर रोज़ के काम-धंधों का सिलसिला शुरू हो गया। चक्कीवाली ने शक से त्यौरी चढ़ाते हुए चारों ओर देखा: "तो, तुम उस फ़ैशन की गुड़िया के पीछे दीवाने हो, क्यों? तुम्हारा ख़याल है कि मेरे आंखें नहीं हैं, और मैं कुछ नहीं देखती? मुझे सब मालूम है, सब कुछ! लानत है तुम पर, धिक्कार है तुम्हें!"

"क्या हुआ है तुम्हें? तुम्हारा सिर तो नहीं फिर गया है क्या?"

"जो कुछ हो रहा है न, मैं वह सब कुछ देख रही हूं।"

"छि! हम इस जंगल में भेड़ियों की तरह रहते हैं, कभी किसी इन्सान की आवाज़ तक तो कानों में नहीं पड़ती।"

"नहीं न? तब तुम क्यों यहां-वहां दौड़-दौड़कर ताक-झांक करते रहते हो?"

"भाड़ में जाओ!.. अब बुढ़ापे में ज़्यादा ही दीखने लगा है... भाग यहां से। थोड़ी देर अकेले में चैन लेने दे!"

कुछ ऐसा, जिसका वहां पहले कभी नाम-निशान तक नहीं रहा, कहीं से आकर उन दोनों के बीच जम गया। कुछ संदेह सा, कुछ भ्रम

सा छिपकर बैठ गया हर जगह—पेड़ों के पीछे, पनचक्की के अंदर, घर के भीतर, जंगल के खुले मैदान की दूब में, वान्या की आवाज़ में, और छोटे से छोटे काम और साधारण से साधारण बात-व्यवहार में भी।

"अपने हाथ का टुकड़ा मुझे दो!"—वे खाने बैठे तो वह बोली।

"मैंने तुम्हारे लिए भी एक टुकड़ा काट दिया है।"

"इससे क्या? तुम वह टुकड़ा लो।"

अगर वान्या देर तक पनचक्की के काम में फंसा रह जाता या नाज पिसाने के लिए आनेवाले किसानों से बक-झक करते-करते घर लौटने में देर कर देता तो वह उसके आने तक न कभी खाने को हाथ लगाती, न पीने को। वह उसे बुलाती:

"वान्या, आओ, खाना खा लो, नहीं तो ठंडा हो जायेगा।"

"अभी आया, एक मिनट में, तुम खा लो।"

"मेरी फ़िक्र न करो... तुम खाओ..."

और, बस, फिर गाली-गलौज होने लगता। दोनों एक दूसरे पर बरसने लगते। औरत पूरी आवाज़ से चीखती तो उसका वह नौकर भी उतनी ही ज़ोर से चिल्लाता, और गाली-गलौज करने में कहीं से कोर-कसर न रखता। ऐसी हालत में दोनों की मिली-जुली चीख़-चिल्लाहट से सारा जंगल गूंजने लगता।

कभी-कभी रात को उसे ऐसे लगता, कि बूढ़ा आया है, और चुपचाप उसके पास आकर खड़ा हो गया है मानो उसे आते किसी ने नहीं देखा। कभी उसे लगता कि वह औंधे मुंह ज़मीन पर पड़ा है, दाढ़ी बालू में कुछ घुस गई है, कुछ दिख रही है, उंगलियां फिसलती बालू को मुट्ठी में बंद कर रही हैं।

पर उसे इससे डर नहीं लगता था, क्योंकि बूढ़े के चेहरे से न तो भर्त्सना दिखती थी, और न धिक्कार। उसकी अन्तर्तात्मा की आवाज़ जाने कब की सो गई थी, और बूढ़े के आने की आहट से भी नहीं जागती थी।

इस पर भी दादा के विश्वास भरे, गंभीर, शांत चेहरे पर जैसे रह-रहकर अंकित हो उठता—"यही हालत तुम्हारी भी होगी!"

नींद में उसके मुंह से कराह निकल जाती, उसके दांत भिंच जाते और वह जाग उठती। जागने पर उसे अपना शरीर पसीने से तर

मिलता। वह घृणा से भर उठती, और जवान, स्वस्थ मज़दूर के स्वस्थ चेहरे को घूरती रहती, घूरती रहती। जवान अपनी बाहें पीछे किये, मुंह खोले खुर्राटे भरता रहता।

ऐसी ही एक रात वह चुपचाप बिल्ली की तरह उठी। उसकी हरी आंखें भी ठीक बिल्ली की तरह ही चमक रही थीं, और उसने क़दम भी बिल्ली की तरह ही हलके-हलके रखे, पर इस बीच उसने क्षण भर को भी सोते हुए जवान की तरफ़ से निगाह नहीं हटाई। टटोलते-टटोलते धीरे-धीरे वह कोने तक पहुंची, और तिपाई के नीचे कुछ टटोलने लगी। उसका जी चाह रहा था कि सान चढ़ी कुल्हाड़ी उठाये और उसकी धार वान्या के खुले मुंह पर दे मारे। उसका सारा शरीर कांप उठा।

वान्या की आंख खुल गई और उसे इस वहशीपन से अपने को घूरते देखकर हैरान हो गया :

"तुम इस तरह क्या देख रही हो? मैं सोने में तो नहीं बदल गया, क्यों?"

"मैं अपने हाथों से तुम्हारा गला घोंट दूंगी... तुम्हारी जान लेकर ही दम लूंगी... मैं जानती हूं, तुम्हारे मन में क्या है। बहुत दिन पहले ही मुझे सब पता लग गया था..."

फिर क्या था! अगले सारे दिन वे एक-दूसरे को गाली देते, जली-कटी सुनाते, डराते-धमकाते और लड़ते-झगड़ते रहे। उसने औरत को उसी बेदर्दी से मारा, जैसे कि कोई भी आदमी किसी औरत को मार-मारकर मन की भड़ास निकालता है।

मार खाने से उसका सारा शरीर सूज जाता, उसमें नील पड़ जाते और हफ़्तों चारपाई में पड़ी रहती। पर, ज़रा चलने-फिरने लायक़ होते और होठों की सूजन कम होते ही वह फिर फुफकारने लगती :

"तुमने सब कुछ सांठ-गांठ कर ली है... अपनी उस छोकरी के साथ... मुझे लगता है कि वह यहीं कहीं छिपी बैठी है... इस दलिये में ही तुमने कहीं कुछ मिला न दिया हो... लो चखो, पहले तुम ही खाओ इसे..."

जितनी ज़्यादा मार पड़ती उसे, उतनी ही ज़्यादा वह उसे कचोटती, उसे छेदती, सौ-सौ मन के शक, हज़ार-हज़ार ताने, लाख-लाख शिकायतें सुना-सुनाकर।

पर, सूरज पहले की तरह ही अब भी निकलता था। धूप-छांह सुनहले टुकड़े वैसे ही बिखरी बालू पर खिल रहते थे। पानी छलछल करता था। दिन के चटक रंग अभी भी अपना सुरीला गीत अलापते। पर, इन सबके ऊपर छाई थी अब घुटनभरी धुंध, यह धुंध हर चीज़ को छिपा देती, कुचल डालती। रहनेवालों का दम घुटता सा लगता था।

१३

वान्या ने अपने सबसे अच्छे जूते पहने, साफ़ कमीज़ और कोट पहनने के बाद पेटी कसने लगा।

तब ही चक्कीवाली अंदर आई और चीख़ने-चिल्लाने लगी:

"अरे, निखट्टू! कमीने, फिर उसी छोकरी के पास चल दिया, है न?.."—पर चिल्लाते-चिल्लाते वह एकदम चुप हो गई।

वान्या का चेहरा बहुत गंभीर था, और लगता था जैसे कि उसका अंतर बहुत शांत है। पिछले वर्षों की निर्दयता और क्रोध जैसे लुप्त हो गये थे।

"वान्या, कहां जा रहे हो तुम?" यह पूछते उसका जी बैठा जा रहा था।

वान्या ने पेटी कसी, उसका सिरा एक तरफ़ खोंसा, थैला और टोपी उठाई और ईश्वर की प्रतिमा की ओर झुककर सीने पर क्रॉस बनाने लगा। फिर बोला:

"अलविदा, चक्कीवाली, यह मत सोचना कि मैं बहुत बुरा हूं। मैं यहां से चला जा रहा हूं। हमारा साथ निभ नहीं सकता। देखो न, हम एक-दूसरे को किस तरह हर घड़ी कोंचते रहते हैं।"

इसके बाद वह उसके सामने ज़रा झुका, फिर अपना थैला कंधे पर डाला और बाहर निकल गया।

वह पीछे दौड़ी, और उसकी आस्तीन को कसकर पकड़, साथ-साथ खिंचती-घसीटती, रोती-रोती कहने लगी:

"तुम मुझे इस तरह अकेले क्यों छोड़े जा रहे हो? मैं तुम्हें कितना प्यार करती हूं, कितना चाहती हूं!.. तुम मुझे क्यों नहीं चाहते? मैंने

ऐसा क्या किया है कि तुम इस तरह नाराज़ हो गये हो? .. वान्या, लौट चलो, सब कुछ तुम्हारा है, मुझे अपने लिए कुछ भी नहीं चाहिए, बिलकुल कुछ नहीं..."

"नहीं, मालकिन, नहीं, अब हम साथ नहीं रह सकते।"

उसने झटके से अपना हाथ छुड़ाया, और आगे बढ़ गया।

वह सिर से पैर तक कांपती हुई आगे दौड़ती रही और उसका चेहरा रह-रहकर ऐंठ जाता था। उसके मुंह से झाग निकलने लगे, और वह जलन के मारे चिल्लाने लगी:

"नालायक़, निकम्मे, भगवान करे तू भूखा मरे, सड़क पर तेरी लाश गिरे, और हर ईसाई तेरे मुंह पर थूके... ईश्वर करे कि किसी बाड़े के नीचे भूख के मारे तेरा दम निकल जाये! .. अरे, भिखमंगे, अपाहिज! .."

मन की सारी भड़ास को सब एक ही बार निकाल देने की जल्दी में उसने चिल्लाकर कहा:

"मैं वसीयत टुकड़े-टुकड़े करके फेंक दूंगी... तुझे मौत आये! .."

वह ज़रा रुका, पीछे मुड़ा और पनचक्की की तरफ़ मुंह करके थूक दिया:

"नाश जाये इस चक्की का – यह बैठ जाये... इसी ने मुझे खा डाला है।"

चक्कीवाली ने जंगल में जा निकलनेवाली ऊबड़-खाबड़ सड़क के मोड़ पहुंचते दौड़कर उसे फिर पकड़ लिया। वह उसके गले में बांह डालकर लटक गई और धीरे-धीरे बिलखने लगी:

"वान्या, इतने बड़े जीवन में मैंने एक पल को भी ख़ुशी नहीं जानी। तुम्हें पता है, मेरी सारी जवानी बूढ़े के साथ बीत गई, मेरे कोई बच्चा भी नहीं हुआ... बस अब तुम हो मेरे पास, सिर्फ़ तुम..."

वान्या को उस पर रहम आया, वह रुककर खड़ा हो गया। वह बोली:

"लौट आओ, मैं अब कभी तुमसे कुछ नहीं कहूंगी..."

पर, उसने अपने को छुड़ाया, और तेज़ी से रास्ते पर बढ़ चला दृढ़ मन से। पैर मज़बूती से उठते-गिरते रहे, और उसने एक बार भी पीछे मुड़कर नहीं देखा। जंगल अब घना नहीं रहा था, इसलिए वह

बड़ी देर तक नज़र आता रहा। दूसरी ओर वह ज़मीन पर पड़ी बालू पर सिर पटकती रही। घास के बीच बालू चमक रहा था। काली चक्की भावहीन होकर उन दोनों की ओर बेमन से देखती रही। चक्का धीरे-धीरे घूमता रहा।

१४

एकाकी सूनेपन में दिन पर दिन और महीने पर महीने बीतने लगे। ज़िंदगी उसके लिए बोझ बनकर रह गई थी। जहां भी जाती, जो भी करती, हर चीज़ उसे वान्या की याद दिलाती थी।

जो कुछ हुआ था उसे वह शुरू से आख़िर तक बार-बार सोचती और हर बार वह मानती, क़सूर सारा उसी का अपना है। इस बार अगर वह लौट आये, तो पहले जैसा लड़ाई-झगड़ा नहीं होगा, चैन और प्यार से समय गुज़रेगा।

ऐसे में वह बालू देखती, जो लगातार बेरहम बुढ़ापे की तरह जंगल की तरफ़ बढ़ता चला जा रहा था! और उसका मन पीड़ा से कराह उठता।

इस पर भी वान्या के लौट आने की आशा उसने नहीं छोड़ी थी, वह उसके मन में बसी थी। पर, उसके कभी वापस न आने की संभावना उसे आतंकित कर देती।

बेचारी बुढ़िया यह भी भूल गई थी कि पनचक्की और जंगल पर कितनी बार बर्फ़ की सफ़ेद चादर चढ़ चुकी थी। बर्फ़-पाले ने बालू को निश्चल कर दिया था और पेड़ों की नंगी डालें चुपचाप आनेवाले गरमी तथा सूखी बयारों का इंतज़ार करती थीं।

एक दिन, जब बर्फ़ीली आंधी ख़त्म हुई, पेड़ों की शाखें इकट्ठे हुए बर्फ़ के भार से झुकी जा रही थीं और चांद अभी आसमान में निकला नहीं था, किसी ने खिड़की खटखटाई।

"कौन है?"

शायद पाले के कारण कहीं कोई शहतीर चटका हो? शायद कहीं बर्फ़ का ढेर कहीं छत से खिसककर नीचे गिरा हो?

रोशनी को हाथ की ओट कर उसने अपना मुंह पाले से जमी

खिड़की से सटाया। सफ़ेद धुंध के बीच से पनचक्की का आकार बड़ा उदास-उदास सा लगा। अच्छी तरह देखने पर और भी कुछ नज़र आया। एक छाया खिड़की पर पड़ रही थी – शायद किसी आदमी की, शायद किसी पेड़ की।

जाने किस आस से उसका कलेजा और ज़ोर-ज़ोर से धड़कने लगा। कांपती हुई आवाज़ में पूछा :

"कौन है ?"

"अंदर आने दो।"

उसने सहमते हुए दरवाज़ा ज़रा सा खोला, चिथड़े कपड़े पहने एक आदमी अंदर आया, उसके साथ-साथ पाले से जमी हवा का झोंका भीतर आया। आनेवाला दुबला था, जिसके चेहरे पर दर्द और उदासी लिखी हुई थी।

"वान्या !"

वह उसकी तरफ़ लपकी। वह रोयी, हंसी। पर वह अपने घुटनों के बीच फ़र्श पर उड़ी-उड़ी नज़र गड़ाये बैठा रहा।

"पनचक्की अब भी पहले की तरह ही चालू है।"

"हां, वान्या, हां और चक्का सदा की तरह आज भी घूमता जा रहा है तुम्हारे लिए, मेरे लिए... अब हम दोनों एक साथ आराम से रहेंगे..."

"किसी भले आदमी ने आकर इस चक्की में आग भी नहीं लगायी ?"

"यह क्या कह रहे हो, वान्या, इसी से तो हमारा पेट भरता है। हम इसके मालिक हैं, हम, यानी तुम और मैं।"

कमरा गरम था, समोवार से भाप निकल रही थी, उसी के पास बैठकर वान्या ने अपनी आप बीती सुनानी शुरू की। जाने कितनी जगह उसने काम किया, मजदूरी की। फिर से अपने गांव जाने के लिए, अपना घर बसाने के लिए, फ़ार्म बनाने के लिए वह घोड़े की तरह खटा। बीच-बीच में जब काम नहीं मिला तो दूसरे काम की तलाश में जहां-तहां भटकता रहा। उस बेकारी के अरसे में पहले का बचाया सब पेट में उतर गया।

"देखो !" – उसने हाथ ऊपर उठाकर दिखलाया। एक उंगली

ग़ायब थी।—"एक दिन चलती मशीन में आकर कट गई, तो मैं तीन हफ़्ते तक काम नहीं कर सका।"

इन सब मुसीबतों को बताते समय उसकी आंखों में क्रोध था, चेहरे पर खीझ।

शुरू-शुरू के उन दिनों में चक्कीवाली ने अपनी हद से बाहर जाकर उसे अच्छे से अच्छा खिलाया और घर में सब तरह के आराम दिये, ख़ूब ख़ातिर की, हर समय वह उसी की तरफ़ देखती रहती थी।

पर, रातों में बूढ़ा फिर उसे दिखाई देने लगता, बूढ़े की कुहरे सी सफ़ेद दाढ़ी भी है, और वह मुंह के बल फ़र्श पर लेता हुआ है। बूढ़े के इस तरह पड़े होने में उलाहना का आभास भी नहीं होता था। उस में उदारता और बालसुलभ विश्वास का इतना आधिक्य था कि आंख खुलते ही वह कांप उठती और साथ सोये की आंखों में जिज्ञासाभरी निगाहों से झांकती।

"काश कि मैं तुम्हारा दिल खोल कर देख सकती... उसमें क्या है?"—तड़प भरी वह कहती। फिर तुरंत ही उसका चेहरा विकृत हो जाता, सारा शरीर कंपकंपाने लगता, और वह फुफकार उठती: "तुम अपना परिवार बसाना चाहते थे... मैं तुम्हारे किसी काम की नहीं, मुझसे जान छुड़ाना चाहते हो, चाहते हो सिर्फ़ पनचक्की और उससे मिलनेवाला पैसा, है न... अरे, बदमाश, हत्यारे! .. मौत आये तुझे... मैं तुझे निकाल बाहर करूंगी, जा, चला जा, जहां तेरे सींग समाये वहां जा..."

फिर वही गाली-गलौज, सोते-जागते फिर वही शक, फिर वही मार, पिटते समय की औरत की कलेजा चीर देनेवाली चीख़ें, फिर वही चुप-ख़ामोश रहकर अपलक यह सब देखनेवाली आसपास की चीज़ें। और इन बेजान, भारी निगाहों के साये में यह लोग एकदम छोटे और अकिंचन से लगते थे।

दिन के दिन, हफ़्ते के हफ़्ते, महीने के महीने और साल के साल बीत गये, और उन्होंने इस भयानक ज़िंदगी को आदत बना दिया।

और फिर समय के गुज़रने का पता केवल तब ही चला था जब मर्मर से गूंजते पत्तों के बोझ से झुक-झुक जानेवाले पेड़ ठूंठ हो जाते और

उनकी बेजान सी बाहें आसमान की ओर उठी दिख जातीं। बालू चुपचाप अटल नियति सा जंगल में बढ़ता जा रहा था।

कभी-कभी ही ऐसा होता था जब चक्कीवाली किसी काम से कहीं बाहर चली गई होती, तो पानी की बूंदें ख़ुशी से टपकती सी लगतीं, और पेड़ों की सूखी हुई डालियों में छिपे बैठे जंगली कबूतर गुटर-गूं, गुटर-गूं करने लगते। वान्या बाहर निकल आता, टीले पर जा बैठता और अपना सिर थामकर जाने किस सोच में डूब जाता।

सपने का सा एक चित्र उभरा, भरी गरमी के दिन हैं, खुली सड़क पर आगे ही आगे बढ़ा जा रहा है, वह एक फ़ार्म के बाद दूसरे फ़ार्म में जाता है, पर मज़दूरी कहीं नहीं मिलती। सूखे होंठ तर करने के लिए कहीं एक बूंद पानी नहीं है। और फिर घर और फ़ार्म की बात अब उसकी कल्पना में नहीं आती। उसे लगता है कि उसके आसपास कहीं कुछ भी नहीं है, केवल है पनचक्की जहां की तहां खड़ी, काली, माथा चढ़ाये। फिर लगता है कि पनचक्की का आकार बढ़ता जा रहा है। छोटे दरवाज़े फाटकों के बराबर हो गये हैं, बड़ा चक्का ऊंचाई में पेड़ से भी ऊपर चला गया है, टूटी छत काले बादलों के पास तक पहुंच गई है। हर तरफ़ बस चक्की ही नज़र आती है, और कहीं कुछ नहीं।

देखो...

उसने आंखें खोलीं और सिर झटका। धूप निकली हुई थी, पानी छलछल कर रहा था, और पेड़ों में से दिखाई दे रही थी चक्की, काली चक्की।

"उफ़, शायद मेरी आंख झपक गई थी। चलूं और पनचक्की में नाज डाल दूं।"

उसने उठकर फिर वही काम शुरू कर दिया।

चक्कीवाली लौट आई, सब कुछ जैसे जादू हो गया—पानी की छलछल, जंगल और पेडुकियों की कू-कू, सब लोप हो गये। चीख़-पुकार, वैर-भाव, गाली-गलौज के शोर में बाक़ी सब स्वर दब गये।

१५

वान्या ख़ामोश, सोच में खोया सा रहने लगा। उसका खाना कम हो गया, मुंह से आवाज़ भी नहीं निकलती थी। चक्कीवाली को मारना-पीटना भी उसने बंद कर दिया। बुढ़िया को इसी कारण सबसे ज़्यादा परेशानी हुई। कितनी ही रातों उसने पलक तक नहीं झपकाई। रोटी और खाने की दूसरी चीज़ें वह ताले में बंद करके रखने लगी, और हर समय होशियारी बरतनी शुरू कर दी। उसका मन डरने लगा कि वह उसके खाने में कहीं कुछ मिला न दे।

"कुछ तो बोल, कुछ कहता क्यों नहीं? अरे जोंक, तू अपने मुंह में ताला क्यों लगाये रहता है! .. नरक के कीड़े..."

एक दिन सुबह-सवेरे अभी पनचक्की पर आटा पिसवाने कोई नहीं आया था, वान्या खलिहान की तरफ़ गया, इधर-उधर कुछ ढूंढ़ने लगा और हाथ में कुछ लेकर सीधे चक्कीवाली के पास आया। उसका चेहरा बहुत ही गम्भीर और कठोर लग रहा था। वह बोला:

"चलो, मेरे साथ।"

"आख़िर कहां? .. मरे, तुझे मौत आये, प्लेग तुझे चबा जाये, हैज़ा हो जाये तुझे, आंत-आंत कटकर गिरे... भगवान करे कि तू! .."

वान्या ने उसे ऐसा घूंसा मारा कि वह ज़मीन पर गिर पड़ी। उसकी चोटी पकड़कर घसीटने लगा।

चक्कीवाली बदहवासी से घिसटती-घिसटती, पेड़ों की शाखें, झाड़-झंखाड़, घास और बालू–जो कुछ भी रास्ते में पड़ा–उसी को पकड़ने की कोशिश कर रही थी। साथ ही वह गला फाड़-फाड़कर इस तरह चिल्ला रही थी कि लगता था, जैसे क़साई गाय के गले पर छुरी चला रहा हो।

जब पनचक्की पीछे छूट गई और आसपास के उदासीन जंगल ने उसकी चीख़-पुकार पी ली, तो वह जिस-तिस तरह पैरों के बल चलने की कोशिश करने लगी और निकट मौत के डर के मारे पेड़ की पत्ती की तरह कांपते हुए बोली:

"वान्या, प्यारे, कहां ले जा रहे हो तुम मुझे?"

"चलो, बस, चली चलो..."

वे दोनों चलते गये, चलते गये। सूखी झीलें पीछे छूट गईं, और जंगल के सफ़ेद बालू से ढके पेड़हीन मैदान पीछे रह गये। अंत में जब वे एक-दूसरे में फंसी-उलझी लताओं के झुरमुट में पहुंचे, तो वान्या बोला: "घुटनों के बल बैठ जाओ और भगवान का नाम ले लो।"

उसके नीचे लटकते हाथ में एक भारी पैनी कुल्हाड़ी थी।

बुढ़िया ज़मीन पर लोट गई और अपने दोनों हाथों से उसके पैर पकड़कर बोली: "मेरे राजा, अपनी आत्मा को नरक में मत डालो और न मेरी... मुझे मारो मत, दिन के उजाले को मेरी आंखों से मत छीनो..."

उसने शांति से, पर रुखाई से उत्तर दिया:

"तूने मुझे बहुत दुख दिये है... बहुत सताया है... अब मुझसे और नहीं सहा जाता। दिन एक-एक करके बीतते जाते हैं, और मेरे लिए कोई अंतर नहीं पड़ता... मैं कुछ नहीं कर पाता... जो भी हो, मैं ऐसे जाल में फंस गया हूं कि किसी भी तरह निकल नहीं सकता। अरी, बूढ़ी कुतिया, तुझे तो बहुत पहले ही मर जाना चाहिए था।"

"वान्या, भगवान तुझे चैन की सांस न लेने देगा कभी... मेरी बात गांठ में बांध लो।"

मौत के डर से छटपटाती खिसकखिसककर फिर उसकी ओर बढ़ने लगी और उससे लिपट गई, पर वह एक क़दम पीछे हट गया: "चुड़ैल, तो तू भगवान का नाम भी नहीं लेना चाहती? .. ठीक है, यही सही, हरामज़ादी, तो जा, यों ही जा..."

और, एक पैर पीछे रखकर उसने झटके से कुल्हाड़ी उठाई।

वह चीख़ी, पर इस चीख़ में डर न था, था विद्वेष: "और वसीयत! वसीयत को तो मैंने फाड़कर फेंक दिया है–जाने कब का!"

कुल्हाड़ी उसके हाथ में उठी की उठी रह गई, वह रुक गया, वह उन्मादिनी ज़मीन पर लोट-लोटकर हंसने लगी, ठहाके लगाने लगी। उसका बदन ऐंठ रहा था। वह धरती मुट्ठियों में भींचती रही, और उसके विकृत, बदसूरत होंठों में से झाग निकलने लगे।

"मैंने फाड़ फेंका है वसीयत को! .. हां, फाड़ दिया है! .. एकदम! .."

श्रौर, उन दोनों के चारों श्रोर घिरा जंगल उन शब्दों को पकड़कर धीरे-धीरे दोहराने लगा।

सूखी डाल पर बैठा काला कौश्रा चीखा :

"ख़तम... ख़तम... ख़तम!"

वान्या ने कुल्हाड़ी फेंक दी, श्रौर श्रपना सिर हाथों में थामे लड़खड़ाते, ठोकरें खाते हुए वहां से भाग चला। ऊपर का मैला श्रासमान, धुंध भरी सी हवा—जंगल के मैले सूनेपन में सब खो गये। बालू उठकर श्रासमान तक जा पहुंची। हवा में लहराते हुए बालू के खंभे, श्रपने रूप बदलते हुए, बराबर श्रागे ही श्रागे बढ़ते गये, उनके ऊपरी हिस्से घिरे बादलों में खो गये।

जिधर भी वह देखता, उसे सब एक सा ही मिलता... श्रंधकार श्रौर श्रंधकार, श्रौर बस... श्राशा श्रौर प्रकाश की एक किरण भी नहीं, निराशा का कहीं कोई श्रंत नहीं।

१६

समय ने किसी की राह नहीं देखी। वह गुज़रता गया, गुज़रता गया, श्रौर ऐसे जैसे कि कहीं कुछ हुश्रा ही न हो। चक्कीवाली मुर्ग़ीख़ाने की देखभाल करती, किसानों से झिक-झिक करती, नाज तोलती; वान्या पनचक्की चलाता, पनचक्की के पत्थर काटता-छांटता, श्रौर ज़रूरत पड़ने पर टूट-फूट की मरम्मत कर देता। एक दिन वह बोला :

"सुनो, चक्कीवाली... श्रगर तुम सब कुछ मेरे नाम नहीं कर देतीं, तो मैं यहां से चला जाऊंगा, मैं श्राख़िर किस उम्मीद को लेकर यहां रहूं? यहां है क्या... श्राखिरी बार कह रहा हूं यह बात।"

"तो, चलो, पादरी के पास चलते हैं। पिछली वसीयत उसी के पास हुई थी। श्रौर दूसरी भी वहीं तैयार कर देगा।"

दोनों पादरी के पास गये। वह बाहर बरसाती में श्राया, श्रौर उदास श्रांखों से उन्हें देखने लगा।

"पादरी साहब, हम श्रापसे मिलने श्राये हैं।"

"क्या बात है?"—उनकी बात सुने बिना पादरी कहता गया—

"आख़िर तुम दोनों शादी क्यों नहीं कर लेते? तुम बेधर्मियों की तरह क्यों रहते हो? क्या तुम चाहते हो कि तुम्हारी आत्माएं नरक में जलें? तुझे शर्म आनी चाहिए, बुढ़िया। जब तक तू प्रायश्चित्त नहीं कर लेती, मैं तेरा संस्कार नहीं करूंगा।"

"मैं इससे शादी कैसे कर सकती हूं, पादरी साहब?"—फफक-फफककर रोते हुए वह बोली।—"यह तो मुझे मार-मारकर अधमरी कर देता है। सारे बदन में कोई जगह नहीं है, जहां मार के निशान न हों। पता है, अभी हफ़्ते पहले इसने क्या किया? यह मुझे जंगल में ले गया और वहां इसने मुझे जान से मार डालना चाहा। हां, हां, बिलकुल सच है यह बात। भगवान की क़सम खाकर कहती हूं। और इसके नाम लिखी जो वसीयत आपके पास रखी है, उसे रखे रहिये... पर, अगर मैं कहीं मरी मिलूं या ख़ुद ही मर जाऊं, तो इसका मतलब यह होगा कि इसी ने मेरी हत्या की है। ये सारी बातें मैं आपके कान में डाल देना चाहती हूं, ताकि मेरे न रहने पर यह सब जानकर लोग जो ठीक समझें सो करें!"

वान्या लड़खड़ाकर पीछे हटा। चेहरे से पसीने की बूंदें चूने लगीं।

"तो, वसीयत को फाड़ा नहीं था इसने?"

उसके कान सनसनाने लगे, और जो कहा जा रहा था, वह उसने नहीं सुना। पादरी कहता गया:

"तो, यह है तेरे दिमाग़ में? जेल की हवा खाना चाहते हो? ख़ैर, कटाई का समय आनेवाला है, तू कोई दो हफ़्ते बाद आ जाना और गिरजेवाली चरागाह की घास काट देना... इस तरह तुम्हारे पाप का प्रायश्चित्त हो जायेगा... और देखो, ध्यान रखना, आ जाना, वरना मैं मामला पुलिस के हाथों सौंप दूंगा... समझ गये? और बुढ़िया, अच्छा हो कि तू अपना सब कुछ गिरजे के नाम लिख दे... तेरे पाप भी बहुत भारी हैं...

वान्या के गले में फंदा और कस गया। वहां से चले जाने लायक़ इच्छा-शक्ति नहीं रही थी उसकी। दूसरे, मेहनत के काम करने की आदत भी उसकी छूट गयी थी। और पनचक्की बराबर धड़-धड़, धड़-धड़ करती रही। न पल को सांस मिलती, न हवा बदलती। चक्कीवाली का मुंह पल भर को भी बंद न होता। वह हर घड़ी चिल्लाती, चीख़ती: "हत्यारे! डाकू! क़साई!"—और वह उसे बर्बरता से पीटता।

१७

वान्या, दिन ढले के बाद, उसके साथ खाना खाने बैठता, तो; किसानों से मोल-भाव करता, तो; और पनचक्की के मुंह में नाज डालता, तो; उसे हमेशा यही लगता कि कोई तीसरा व्यक्ति पास खड़ा है। वह जब-जब निगाहें ऊपर उठाता तब-तब पनचक्की का काला आकार ही उसकी आंखों के आगे पड़ता।

पनचक्की के घड़घड़ाते पाटों में और घूमते चक्के में तो उसे सदा कोई कुछ कहता लगता—एक रस, एक गति से। दिन हो या रात, कोई उससे जैसे बात करता रहता, मानो कि उसकी बातों का अंत ही न हो!

वह स्थिर होकर खड़ा हो रहता, एक ओर कान लगाता, और आहट लेने की कोशिश करता। उसे कोई लंबी-लंबी सांसें लेता लगता, और आवाज़ें उसके पास चली आतीं:

"...ओ-हो-हो-हो... हा-हा-हा-आ... हो-हो-ओ..."

ऐसी भाषा, जिसे प्राय: कोई भी न समझ पाये, पर जो आदमी के मन की बात तो व्यक्त कर ही देती थी। पतझड़ के मौसम में नदी पर छाये कुहरे की तरह ही ये विचार अस्पष्ट होते, बिखरे-बिखरे से, अदलते-बदलते रहते, एक-दूसरे में घुल-घुल जाते, और सारे धुंधले आकार में मिलकर एक ही बात कहते लगते: "तुम... तुम मेरे हो... मेरे हो तुम... तुम मेरे पास से कहीं और जा नहीं सकते... तुम मेरे हो—सिर्फ़ मेरे!.."

धीरे-धीरे घूमता हुआ चक्का, काला, मनहूस चक्की घर, लटकता हुआ छप्पर, धीरे-धीरे, छल-छल करता पानी, अथक आवाज़ बदल-बदलकर बराबर धड़-धड़ करते चक्की का पाट, सब कुछ वान्या को जीते-जागते से लगने लगे, और धीरे-धीरे वह इनमें से हर चीज़ को जीवित प्राणी समझने लगा।

चक्कीवाली कहती: "खाना खाने के लिए अंदर क्यों नहीं आते?"

उत्तर मिलता: "देखो न, यह चक्की मुझे आने ही नहीं देती।"

या—"आज चक्के का दिमाग़ ज़रा गरम था—उसने ऐसी ज़ोर से खींचा कि मेरा हाथ कंधे से अलग होते-होते बचा।"

था—"आज चक्की के पाट की तबीयत खिली हुई है—नाचता है कि बस, नाचता ही जाता है, अरे इतनी तेज़ी से नाचता है कि मुझे आटा समेटने तक का मौक़ा नहीं मिलता।"

दूसरी ओर, जब वे तू-तू, मैं-मैं, गाली-गलौज और लड़ाई-झगड़े से तंग आ जाते, तो शराबों के दौर चलने लगते और हो-हल्ला शुरू हो जाता। पड़ोसी फ़ार्मों से आते, किसान पीते कि पीते ही चले जाते, और हर चीज़ उलट-पलट हो जाती।

बहुत अधिक शराब पीकर वान्या पर नशा चढ़ जाता, तो उसे देखकर लोग डर से पीछे हट जाते थे। कच्चे गोश्त सी उसकी लाल-लाल आंखें क्रूरता से चमकने लगतीं। वह अपनी क़मीज़ के बटन खोल देता और अपने बालों से ढंके बदन को उघाड़े घूमने लगता। कभी वह सिर पकड़कर शराबियों की तरह रोने लगता।

"अरे मेरा सिर, बेचारा, एक कौड़ी के लिए बिक गया, एक चुटकी तंबाकू के लिए दूसरे का मुहताज है। इतनी बड़ी दुनिया में मैंने तो कुछ नहीं देखा! मैंने जीवन नहीं देखा, कभी कोई ख़ुशी नहीं जानी, केवल देखी-जानी और समझी बालू... यह बालू यहां से उड़कर वहां और वहां से उड़कर यहां जाती है और इसने मेरी ज़िंदगी तिल-तिल जलाकर बर्बाद कर डाली है... आग लगे इसे भी!.."

वह खोयी निगाहों से देर तक चक्की को एकटक देखता रहा, पर चक्की ज्यों की त्यों खड़ी रही—काली, गंभीर-गंभीर सी एक ओर को झुकी हुई—और काई से ढका चक्का घूमता रहा सदा की भांति। जैसे बूढ़े के सामने—सब ऐसे ही था, बूढ़े से पहले भी। चक्की के काई ढंके चक्के को देखते ही उसका मन असीम घृणा से भर गया।

"तेरा नाश जाये!"

उसने झपटकर कुल्हाड़ी उठाई, और पागलों की तरह पनचक्की पर चोट करनी शुरू कर दी। वह पूरी ताक़त के साथ हाथ मारता जाता और कुल्हाड़ी का फल पूरे का पूरा काली पड़ी पुरानी लकड़ी में धंस जाता, और खपच्चियां चारों ओर छिटक-छिटककर गिरती जातीं। चटाक से दरवाज़ा बीच में से दो हो गया, और कब्ज़ों से अलग होकर चरमरा कर गिर पड़ा।

चक्कीवाली गला फाड़कर चिल्लायी:

"अरे, इसे रस्सी से बांध दो! .. यह हर चीज़ तोड़ कर रहेगा! .. बांधो इसे! .."

खपच्चियां चारों ओर उड़ती रहीं और चक्की की दीवार ने जैसे मुंह फैला दिया।

"मेरे पास मत आना... वरना मार डालूंगा! .."

कुल्हाड़ी थी भारी; लोहे का फल पुरानी लकड़ी में गहरे ही गहरे धंसता गया। और मेहनत से उसका चेहरा लाल पड़ता गया। बीच-बीच में वह ख़ुशी से चीख़ पड़ता। लगता कि पल भर में चक्की धरती पर ढह पड़ेगी, और सारा जंगल आज़ाद हुए उस इंसान की हंसी से गूंजने लगेगा:

"हा-हा-हा-हा-हो-हो-हो-हो! .."

"अरे, बांध दो इसे! .. बांध दो! .. हे भगवान, यह मुझे मारे डाल रहा है! .."

"हो-हो-हो...हा-हा-हा! .."

मेहमान और किसान दौड़ते हुए आये, पर वान्या के पास जाने की किसी की हिम्मत न हुई। वह पैनी चमकती कुल्हाड़ी हाथ में लिए खड़ा था। उन्होंने बड़ी कठिनाई से लाठी मारकर कुल्हाड़ी नीचे गिरायी, वान्या को धरती पर पटका, हाथ पीछे जकड़ कर और गुस्से के मारे हांफते हुए उसे बेंत के पेड़ों के नीचे घसीटते ले गये।

दूसरे दिन सुबह होते ही, बालू पर पहली धूप पड़ते ही वान्या ने फिर कुल्हाड़ी उठायी और दीवारों की मरम्मत और नया दरवाज़ा लगाने में सारा दिन लगा दिया।

दोनों में कोई भी दूसरे से अधिक नहीं जिया। थोड़े समय के अंदर ही अंदर दोनों मर गये। पर जब तक जिये, तब तक थके-थके जिये, एक-दूसरे को कचोटते रहे, और इसी तरह की बेमाने ज़िंदगी से समझौता कर उसके आदी हो गये।

जब उन दोनों की अर्थी उठी, तो आधी ढही चक्की, जिसके एक ओर को झूलते छप्पर के फूस काले पड़कर जहां-तहां से नीचे लटक रहे थे, उनके ताबूतों को उसी तरह भावहीन, अस्पष्ट, अर्थहीन दृष्टि से

घूरती रही, काई से मढ़ा चक्का उसी तरह घूमता रहा—उदासी से, धीरे-धीरे, अनमना सा।

बालू का विस्तार अविराम बढ़ता ही रहा। बहुत दिनों तक चक्की का बालू में आधा धंसा, काला पड़ा खंडहर दिखता रहा। पर, फिर वह भी गिरकर उस में मिल गया और बालू नदी तक फैल गई।

अब जब रातों को चांदनी आसमान से धरती पर उतरती, तो एक माया स्वप्न सा हवा की लहरों पर लहराने लगता। इस स्वप्न के धरातल पर छोटे-छोटे सफ़ेद घर होते, चिनार के पेड़ होते, औरतों की हमेलों में सिक्के खनकते, और इस गुनगुनाती ख़ामोशी, छलछल करते आंसुओं में से स्वर उभरते—"और, उसके नन्हे-मुन्ने से दायें बाज़ू पर एक जन्मचिन्ह है, जन्मचिन्ह है..."

धीरे-धीरे सपना मिट जाता और सफ़ेद बालू ही बाक़ी रह जाती, निर्जीव, काली छायाएं टीलों पर इधर-उधर तक बिखर जातीं।

१६०८

दो मौतें *

एक लड़की मास्को सोवियत के प्रधान कार्यालय में आई। उसकी आंखें भूरी थीं, और उसके सिर पर रूमाल था।

अक्तूबर का डरावना आसमान था। युंकर (फ़ौजी स्कूल के अफ़सर-छात्र – सं०) गीली छतों पर चुपके-चुपके रेंग रहे थे और चिमनियों की आड़ से गोली बरसाकर बेफ़िक्री से सोवियत चौक पार करनेवाले लोगों को मार गिरा रहे थे।

लड़की बोली :

"मैं क्रांति के लिए कोई बड़ा काम तो नहीं कर सकती। मैं आपको युंकरों के बारे में सूचनाएं पहुंचाना चाहती हूं। नर्स का काम मैं जानती नहीं, और नर्सें आपके पास हैं भी काफ़ी। मैंने आज तक कभी हाथ में हथियार नहीं उठाया है, अतः लड़ भी नहीं सकती। पर अगर आप मुझे पास दे दें तो मैं आपको युंकरों के बारे में सूचनाएं ला-लाकर दे सकती हूं।

चिकने पड़े चमड़े की जाकट पहने साथी ने बड़े ग़ौर से उसकी ओर देखा। उसकी पेटी में पिस्तौल लटक रही थी, और तपेदिक की बीमारी और रातों के जागरण से उसके गाल बैठ गये थे।

वह बोला :

"आजकल की हालत समझती हो? अगर तुमने हमें बेवकूफ़ बनाया, तो हम तुम्हें गोली से उड़ा देंगे। और अगर तुम दुश्मनों के हाथ लग

गईं, तो वे तुम्हें गोली मार देंगे, और अगर तुमने हमसे धोखा किया, तो हम तुम्हें अभी यहीं गोली से उड़ा देंगे।"

"मैं जानती हूं।"

"तुमने सब कुछ अच्छी तरह सोच-विचार कर लिया है?"

उसने अपना रूमाल ठीक किया।

"आप मुझे पास दे दीजिये और ऐसे काग़ज़ात दे दीजिये जिससे यह साबित हो कि मैं फ़ौजी अफ़सर की बेटी हूं।"

उन्होंने उससे दूसरे कमरे में जाने के लिए कहा और एक संतरी पहरे पर लगा दिया।

चौक में दोनों तरफ़ से गोलियां चलीं, युंकरों की एक बख़्तरबंद गाड़ी आई थी, गोलियां चली थीं और गाड़ी वापस चली गई थी।

"जाने यह सब क्या बला है। हमने उसके बारे में पूछताछ की है, पर उससे भी क्या हासिल होगा?"—तपेदिक के से चेहरेवाला साथी बोला।—"हो सकता है कि उसके कारण हम ख़तरे में पड़ जायें, वह हमें धोखा दे दे। चलो, पास तो उसे दे ही दो। हमारे बारे में वह जानती ही कितना है जो किसी दूसरे को बता देगी। और अगर वह ऐसी-वैसी हरकत करती पकड़ी गई, तो हम उसे ठिकाने लगा देंगे।"

उसे नक़ली काग़ज़ात दिये गये, और सड़क के कोनों पर तैनात लाल सेना के संतरियों को अपना पास दिखलाती वह अरबात सड़क पर स्थित अलेक्सांद्रोव फ़ौजी स्कूल के लिए चल पड़ी।

ज़्नामेंका सड़क पर पहुंचते ही उसने अपना लाल पास छिपा लिया। यहां युंकर उसे चारों ओर से घेर कर स्कूल के अंदर ड्यूटी अफ़सर के पास ले गये।

लड़की बोली:

"मैं नर्स का काम करना चाहती हूं। सम्सोनोव के पीछे हटते समय मेरे पिता जर्मन युद्ध में मारे गये थे। मेरे दो भाई दोन क्षेत्र की कज़्ज़ाक-फ़ौजी टुकड़ियों के साथ हैं। यहां मैं हूं और एक मेरी छोटी बहन।"

"ठीक, बहुत अच्छा। हमें बड़ी ख़ुशी है। हम अपने महान रूस के लिए विकट संघर्ष कर रहे हैं। किसी भी भले देशभक्त की सहायता पाकर हमें ख़ुशी होती है। और तुम तो अफ़सर की लड़की हो। कृपया इधर आओ।"

लोग उसे बैठक में ले गये, और उसके लिए चाय लाये।

ड्यूटी अफ़सर अपने मातहत से बोला :

"स्तेपानोव, मज़दूरों जैसे कपड़े पहन लो और पोक्रोव्का सड़क चले जाओ। पता यह है। यह जो लड़की यहां बैठी है, इसके बारे में सब कुछ पता लगाकर लाओ।"

स्तेपानोव ने कोट पहना, उसके ऊपरी हिस्से में ख़ून का दाग़ और छेद था। यह कोट कुछ समय पहले ही मरे मज़दूर के बदन से उतारा गया था। उसने उसके पतलून, कटे-फटे जूते और टोपी भी पहन ली और शाम के झुटपुटे में पोक्रोव्का के लिए रवाना हो गया।

वहां उसे दुबला-पतला आदमी मिला। उसके सिर के बाल लाल थे और वह अजीब ढंग से आंखें घुमाता था। उसने उस लड़की के बारे में बतलाया :

"हां-हां, नंबर दो में कोई औरत रहती ज़रूर है। उसके साथ एक छोटी बहन भी है। साली पैसेवाली है!"

"इस समय वह कहां है?"

"आज सुबह से तो घर आई नहीं। हो सकता है कि गिरफ़्तार कर ली गई हो। कप्तान की बेटी है, पूरी हरामज़ादी जो ठहरी। लेकिन तुम्हें उसकी क्या ज़रूरत आ पड़ी है?"

"उसकी नौकरानी हमारे गांव की है। उसी से मिलना चाहता था, और कुछ नहीं। अच्छा, चला।"

रात को जब युंकर अपनी-अपनी ड्यूटियों से लौटे, तो उन्होंने लड़की की बड़ी ख़ातिर की। उसके लिए केक, मिठाइयां मंगवाईं। एक ने ज़ोर-ज़ोर से पियानो बजाना शुरू कर दिया, तो दूसरा बाक़ायदा ज़मीन पर घुटना टिकाकर हंसते हुए उसे गुलदस्ता भेंट करने लगा।

"हम जल्दी ही इन बदमाशों को ठिकाने लगा देंगे। वैसे बहुत अच्छी सीख दे चुके हैं हम इन्हें। कल रात को स्मोलेन्स्की बाज़ार की तरफ़ से हमला बोलेंगे। तब देखना कैसे इनके होश उड़ते हैं।"

दूसरे दिन वे उस लड़की को मरहम-पट्टी के काम के लिए अस्पताल ले गये।

चूने से पुती दीवार के पास से गुज़रते हुए किसी चीज़ की ओर उसका ध्यान गया : दीवार से लगी एक मज़दूर की लाश पड़ी थी। उसके

बदन पर गुलाबी कमीज़ थी, सिर पीछे की ओर लटका था, फटे तलेवाले जूते कीचड़ से सने हुए थे और बाईं आंख के ऊपर काला छेद था।

"जासूस है," बिना उसकी ओर देखे, उधर से गुज़रते हुए युंकर ने कहा, "हमने पकड़ा था उसे।"

सारे दिन लड़की ने इतनी दया और कुशलता से लोगों की मरहम-पट्टी की कि उसकी काली, लंबी बरौनियोंवाली भूरी आंखों को घायल लोग कृतज्ञता से देखते थे:

"धन्यवाद, सिस्टर।"

दूसरे दिन रात को उसने घर जाने की अनुमति मांगी। जवाब मिला:

"तुम जा कहां सकती हो? तुम्हें पता नहीं कि जाना ख़तरे से ख़ाली नहीं है? एक-एक कोने पर दुश्मनों की निगाह है। तुम हमारे इलाक़े से बाहर निकली नहीं कि वे बदमाश, तुम्हें पकड़कर, बिना कुछ कहे-सुने गोली मार देंगे।"

"मैं उन्हें अपने काग़ज़ात दिखलाऊंगी। मैं तो शांतिप्रिय नागरिक हूं। मैं इस तरह बाहर नहीं रह सकती। घर पर मेरी छोटी बहन है। भगवान जाने उसका हाल क्या है, वह कैसी है, मुझे बड़ी चिंता हो रही है।"

"अच्छा, घर पर छोटी बहन है। तो ठीक है, दो युंकर मैं तुम्हारे साथ किये देता हूं। वे तुम्हें पहुंचा आयेंगे।"

"नहीं, नहीं..."—हाथ आगे करते हुए डरी आवाज़ में लड़की बोली, "मैं अकेले चली जाऊंगी... बिलकुल अकेले... मुझे डर नहीं लगता।"

उसने उसकी ओर ग़ौर से देखा।

"हां... ठीक है, तो जाओ।"

"गुलाबी कमीज़, आंख के ऊपर काला छेद... सिर पीछे लटका हुआ..."—लड़की के दिमाग़ में कौंध गया।

वह फाटक के बाहर निकली, और तुरंत ही अंधेरे के समुंदर में खो गई—न किसी चीज़ का नाम-निशान, न किसी तरह की कोई आवाज़।

स्कूल की ओर से कोना काटते हुए उसने अरबात चौक पार किया और फिर अरबात गेट पर आई। अंधेरे का एक छोटा सा घेरा प्रतिपल

उसके साथ चल रहा था, और इसमें वह अपनी आकृति पहचान रही थी। और कहीं कुछ नहीं। इतनी बड़ी दुनिया में वह बिलकुल अकेली थी।

वह भयभीत नहीं थी, पर भीतर से बाहर तक उसमें तनाव था।

याद आ रहा था, बचपन में पिता के बाहर चले जाने पर वह कभी-कभी उनके कमरे में चली जाती, पलंग के ऊपर दीवार पर लगे कालीन पर लटके गिटार को उतारती, पैर सिकोड़कर बैठ जाती, तार को छेड़ती, खूंटी फिराती, तार ख़ूब कसती जाती और उससे निकलता स्वर ऊंचा और करुण हो जाता कि जो सुना न जा सके। झन-झन-झन... तार की झनझनाहट हृदय को चीरने लगती... अब और नहीं कसा जा सकता था, तार टूट जाता... वह सिर से पैर तक सिहर उठती, और उसके माथे पर पसीने की बूंदें छलक आतीं... इससे उसे ऐसा सुख मिलता था, जिसकी कोई तुलना नहीं थी।

ऐसे ही वह अंधेरे में चली जा रही थी, मन में कोई डर न था, बस कानों में ऊंचा, और ऊंचा गूंज रहा था: झन-झन-झन... उसे अपनी स्याह आकृति अस्पष्ट सी दिखाई दे रही थी।

सहसा ही उसने हाथ फैलाया, तो वह किसी मकान की दीवार से जा लगा। उसके सारे शरीर में डर की एक लहर सी दौड़ गई और वह ऐसी कमज़ोरी महसूस करने लगी कि उसके माथे पर पसीने की बूंदें छलक आईं, बिलकुल बचपन के दिनों की सी। अरे—मकान की दीवार, पर यहां तो पार्क की रेलिंग होनी चाहिए थी। मतलब यह कि मैं रास्ता भटक गई हूं। ख़ैर, इससे क्या फ़र्क पड़ता है। अभी रास्ता मिल जायेगा। अंदर की कंपकंपी से उसके दांत किटकिटा रहे थे। किसी ने झुककर कानों में उपहास से फुसफुसाकर कहा:

"यह तो अंत का आदि है... समझती नहीं तुम? .. तुम सोचती हो कि तुम केवल रास्ता भटक गई हो, लेकिन, नहीं, यह तो आरंभ है..."

उसने याद करने की भरसक कोशिश की: दाईं ओर ज़्नामेन्का सड़क, बाईं ओर पार्क... हो न हो, वह वहीं कहीं है इन दो जगहों के बीच। उसने हाथ फैलाया तो एक खंभा था। तार का खंभा है न? उसका दिल ज़ोर-ज़ोर से धड़कने लगा। वह झुक गई और कुछ टटोलने सी लगी, उंगलियां ठंडे, गीले लोहे पर पड़ीं... पार्क की रेलिंग। तुरंत उसके मन का बोझ उतर गया। वह चुपचाप उठी और... कांपने लगी।

उसे आसपास की हर चीज़ घूमती सी लग रही थी, धुंधली सी, कभी छिपती, कभी दिखती, इमारतें, दीवारें, पेड़। ट्रामों के खंभे, ट्राम की पटरियां, हर चीज़ ख़ून से लाल रंग की और ख़ून से लाल अंधकार में चलती लग रही थी। ख़ून सा लाल कुहरा भी हिलता लग रहा था। नीचे लटके से बादलों में भी लाल रंग कौंध रहा था।

वह उसी तरफ़ चल दी, जिधर से यह ख़ामोश, कंपकंपाती प्रकाश-किरण आ रही थी। वह निकीत्सकिये गेट की तरफ़ जा रही थी। अजीब बात थी कि अब तक न तो किसी ने उसे आवाज़ दी और न किसी ने उसे टोका। पर, इस बात का ज्ञान उसे बरावर रहा कि बड़े-बड़े गेटों के पास और मकानों के दरवाज़ों के पास, हर जगह अंधेरे कोने में संतरी छिपे खड़े हैं, और उनकी आंखें बराबर उस पर लगी थीं। वह उनके आगे से गुज़र रही थी, लाल प्रकाश उसके ऊपर पड़ रहा था, वह चलती गई उस लाल प्रकाश को चीरती।

वह शांत भाव से क़दम बढ़ाती, एक हाथ में सफ़ेद गार्डों का दिया पास पकड़े और दूसरे में लाल गार्डों का दिया, जब जिस पास की ज़रूरत होगी, तब वही दिखाने के लिए। सड़कें सूनी थीं। जहां-तहां नज़र आती थीं केवल लपटें, दर्द से भरी, ख़ामोश। निकीत्सकिये गेट के आसपास और भी भयानक आग लगी थी। लपट की जीभें नीचे छाये लाल बादलों को भेद रही थीं, और बादलों पर लाल धुआं फैल जाता था। एक बड़ी, ऊंची इमारत ऊपर से नीचे तक आग में धधक रही थी, उस आग के प्रकाश में आंखें चौंध जाती थीं। इस भीषण अग्नि-कांड में हर चीज़ बुरी तरह थरथरा रही थी और ऊपर हवा में उछल जाती थी। केवल कड़ियां, मुंडेरे और दीवारें काले अस्थि-पंजर सी स्थिर खड़ी थीं। जहां पहले खिड़कियां थीं—वहां केवल बड़े-बड़े छेद रह गये थे—उनमें से भी झुलसती लपटें निकल रही थीं।

जैसे एक लंबी पूंछवाले लाल पक्षी की चिनगारियां आसमान तक उठी जा रही थीं और उस इमारत के आसपास की हर चीज़ चिनगारियों और लपटों की चटकने की आवाज़ में डूबी जा रही थी।

लड़की ने मुड़कर देखा। सारा शहर अंधकार में खोया था। अनगिनत इमारतें, घंटाघर, चौक, पार्क, थियेटर और चकले—कुछ भी नज़र नहीं आता था, अंधेरा था बस, गहरा, घना।

सब जगह सन्नाटा था रहस्य-भरा सा। लगा कुछ होनेवाला है, पर बताया नहीं जा सकता। इस गहन सन्नाटे में जैसे इंतज़ार था, आशंका थी। लड़की सहम गई।

बेहद गरमी थी। उसने कोना काटा और सड़क पार की, पर नुक्कड़ पर पहुंचते ही भारी सा आदमी अंधेरे में से निकला। उसकी संगीन पर रोशनी पड़ रही थी।

"कहां जा रही हो? कौन हो?"

वह ठिठकी और उसने आंखें ऊपर कीं। पर, किस हाथ में कौनसा पास है, इसका उसे ध्यान ही नहीं रहा। नतीजा यह हुआ कि पल भर को वह झिझकती रही। रायफ़िल की नली उसकी छाती से आ लगी।

बात क्या है? लड़की ने दायां हाथ आगे करना चाहा था, पर बायां हाथ आगे बढ़ गया और खुल गया।

उसके हाथ में युंकरों का दिया पास था।

संतरी ने रायफ़िल नीची कर ली और अपनी मोटी, बेक़ाबू सी उंगलियों से पास को सीधा किया। एक क्षण को लड़की सिहर उठी, ऐसी अनुभूति उसे कभी नहीं हुई थी। उसके पीछे आग की चटक-चटककर बिखरती चिनगारियों का प्रकाश कौंध रहा था। युंकरों का दिया पास संतरी की सख़्त हथेली पर उलटा रखा था...

"अहा, यह अनपढ़ है।"

"यह लो।"

लड़की ने उस मनहूस पास को मरोड़ लिया।

"कहां जाना चाहती हो?" संतरी ने पूछा।

"प्रधान कार्यालय में... सोवियत के दफ़्तर में।"

"गलियों से होती हुई चली जाओ, नहीं तो दुश्मनों के हाथ पड़ जाओगी।"

प्रधान कार्यालय में उसकी बड़ी आवभगत की गई, जो सूचना वह लाई थी, वह बड़े महत्व की थी। सबने उससे बड़े मैत्री-भाव से बातें कीं और तरह-तरह के सवाल किये। चमड़ की जाकट पहने, तपेदिक से पीले चेहरेवाला आदमी उसकी ओर देखकर स्नेह से मुस्कराया:

"शाबाश, शाबाश! लेकिन, ज़रा संभल कर रहना।"

शाम को गोलियों की बरसात थमी कि लड़की अरबात सड़क की

ओर रवाना हुई। अस्पताल में पास के इलाक़े से आनेवाले घायलों की गिनती प्रति क्षण बढ़ रही थी। युंकरों ने स्मोलेन्स्की बाज़ार की ओर से हमला किया था, जिस में उन्हें मुंह की खानी पड़ी। उनकी भारी हानि हुई थी।

थकान से बुरी तरह चूर होने पर भी लड़की सारी रात घायलों को पानी देती रही और उनके घावों की मरहम-पट्टी करती रही। घायल उसकी प्रत्येक गतिविधि की ओर ध्यान देते, और उसकी ओर कृतज्ञता से देखते थे। अगली सुबह मज़दूरों के कपड़े पहने युंकर झपटता हुआ अस्पताल में आया। उसके बाल बिखरे थे, सिर नंगा और चेहरा विकृत था।

वह दौड़ता हुआ सीधा लड़की के पास पहुंचा:

"इस... इस कुतिया ने... हमें धोखा दिया है..."

लड़की लड़खड़ाकर पीछे हटी और काग़ज़ की तरह सफ़ेद पड़ गई। पर, दूसरे ही क्षण उसका चेहरा तमतमा उठा, और वह चिल्लाई:

"तुम... तुम मज़दूरों को मौत के घाट उतार रहे हो! और, वे... वे अपनी ग़रीबी से, अपने नरक से उभरने के लिए लड़ाई लड़ रहे हैं.. मैंने... मुझे हथियार चलाना नहीं आता, फिर भी मैंने तुम्हें मार डाला.. "

वे उसे चूने से पुती दीवार के पास लाये। लड़की ने आज्ञाकारितापूर्वक छाती पर दो गोलियां झेलीं, और वहीं गिर पड़ी, जहां पहले सूती कमीज़ पहने मज़दूर पड़ा था। इसके बाद जब तक वे उसे वहां से ले नहीं गये, उसकी लंबी बरौनियोंवाली भूरी आंखें बराबर आसमान पर लगी रहीं—अक्तूबर के रुक्ष, डरावने बादलों को एकटक निहारती रहीं।

१६२६

गालीना*

कुम्मैत घोड़ी के पुट्ठे रगड़ से छिले हुए थे, पीठ घायल थी। वह बराबर सिर हिलाती, बहुत ही धीमी चाल से आगे बढ़ रही थी। बल खाये झाड़-झंखाड़ इस तरह रास्ते पर बिछे हुए थे कि गाड़ी लीक पर इधर से उधर उछल जाती थी।

सड़क के दोनों ओर का जंगल कटा हुआ था। या तो छंटाई का काम बहुत बुरे ढंग से हुआ था या ढोरों ने पौधों के सिरे इस तरह चर डाले थे कि उसकी बाढ़ रुक गई थी। दूर जहां-तहां तक निगाह जाती थी, केवल काले, काई से ढके टूटे-चटके ठूंठ ही नज़र आते थे, जिनके चारों ओर मरियल-सी झाड़ियां उगी हुई थीं।

नीचे, भूरे से आसमान के तले उड़ते-कूजते निकलते मुटरियों के दल चटकीली चित्तियां जैसे लगते थे।

गाड़ी बुरी तरह हिचकोले ले रही थी। गालीना इतनी बुरी तरह झटके खा रही थी कि उसने फटे दस्तानों से बाहर झांकती उंगलियों से गाड़ी का कटहरा कसकर पकड़ लिया था, जीभ तालू में खींच ली थी, दांत भींच लिये थे और तकलीफ़ के मारे हांफ रही थी।

घोड़ी के लीद से सने पांव रह-रहकर गाड़ी के अगले हिस्से से आ टकराते थे, जहां बैठा सफ़ेद सिरवाला मिख़ाइलो, बक्कल के जूतों से लैस पैर नीचे लटकाये गाड़ी हांक रहा था। उसने फटा हुआ कनटोप पहन रखा था। हिचकोलों के झटकों से वह भी उछल-उछल जाता था,

---

ग्रौर उसका कनटोप भी, दूर के हरे कटावदार जंगल के सिरे पर नाच-नाच उठता था। पर कनटोप के हिलने या उछलने की तरफ़ मिख़ाइलो का ध्यान एक बार भी नहीं गया। वह ग्रपने ही विचारों में डूबा हुग्रा था। शायद कुछ भी न सोच रहा हो, केवल उसकी निगाह घोड़ी के पीछे के बंद पर जम गई हो। बंद घोड़ी की दुम से उलझ गया था, ग्रौर इसे सीधा करना ज़रूरी था।

राह के ये खेत, पेड़ों के ये ठूंठ ग्रौर स्टेशन से गाड़ी हांककर लानेवाला यह किसान – इन सब की कल्पना गालीना ने पहले से ही कर ली थी। वैसे इनका कुछ ग्रनुमान उसे किताबों से भी हो चुका था। उसे उन गांवों की भी याद थी, जहां उसने कभी कुछ गर्मियां बिताई थीं। पर शायद किताबों में लिखा सब कुछ उसने नहीं पढ़ा था; शायद गर्मियों में पढ़ाने के लिये जाते समय, उसने गाड़ी की खिड़कियों से रास्ते की सारी चीज़ें नहीं देखी थीं, या शायद जिन-जिन जागीरों में उसने पढ़ाया था, वे देखने में भिन्न थीं। जो भी हो, यहां की हर चीज़ बिलकुल नई-नई सी मालूम होती थी – मौन, निर्जन, ग्रनमनी सी।

गाड़ी गोबर से भरे एक खेत से गुज़र रही थी कि सामने एक काला सा गांव दिखाई दिया। गांव की हद पर एक वक़्त से कालीपड़ी, बड़ी इमारत थी। इसके ऊपर की नई छत हरे रंग की थी। सामने एक छोटा सा बाग़ था। बाग़ में बर्च के पेड़ों की शाखाएं दुल्हन की सहबाली सी लग रही थीं।

"किसे लिये जा रहे हो?" – एक लंबे से बूढ़े ने पूछा, जिसकी भूरी दाढ़ी उसके लिनन के कुरते पर गिरी जा रही थी। उसकी ग्रावाज़ भर्राई थी, मानो शब्द उसके मुंह से नहीं, कहीं ग्रौर से ग्रा रहे हों। उसने ग्रपने मस्सों से भरे हाथ को गाड़ी के कटहरे पर टिका दिया।

मिख़ाइलो ने रास तानते हुए बिना मुड़े कहा:

"पादरी का सामान पहुंचाने स्टेशन गया था। रई के दाम इस साल दस कोपेक चढ़ गये हैं। रेल की लाइन पार करते समय घोड़ी के पैर को ठोकर लग गई है – फिर से ऐसा हुग्रा, तो कहीं वह मर ही न जाये।"

मिख़ाइलो ने दांतों के बीच से घोड़ी की दुम के नीचे थूक दिया, ग्रौर फिर बोला:

"लौटते समय मैं मास्टरनी जी को लेता ग्राया हूं।"

"हूं: !"–काली इमारत की ओर देखकर सिर हिलाते हुए बूढ़ा बोला, "स्कूल वह रहा, वहां। ईश्वर कबानोव का भला करे कि उसने उस पर अच्छी-ख़ासी छत डलवा दी है... तुम्हें पता है, मिख़ाइलो, मैं अपने बेटे से मिलने गया था। जाते समय रास्ते भर सोचता रहा कि पता नहीं वह मुझे मिलना भी चाहेगा, या नहीं? और, हुआ भी यही। वह बोला–'जाओ, जहां से आये हो वहीं चले जाओ।'"

"यही रंग-ढंग हैं आजकल के लोगों के। सोचते हैं: ये एक पैर क़ब्र में लटकाये बैठे हैं,–इन्हें खिलाने-पिलाने से फ़ायदा?"

मिख़ाइलो ने चाबुक के हत्थे से घोड़ी की दुम में उलझा बंद सीधा किया, और उसी के सिरे से खुर में चिपकी सूखी लीद खुरचने लगा।

"मैं कारिंदे से मिलने जा रहा हूं इसी हफ़्ते–'गीला-कोना' लगान पर लेना चाहता हूं।"

"वह तो वहां है–जंगल से लगा, है न?"

"हुं:-हुं:, चाहे जितना खींचो–एक एकड़ से ज़्यादा ज़मीन नहीं निकलेगी, और, लगान ये ऐसा मांगेंगे कि कलेजा फट जायेगा देते-देते।"

"चोर हैं ये सब, चोर, ईसा की क़सम।"

"जोंक, पूरे जोंक!"

"ऐसे बातें कर रहे हैं जैसे कि मैं कोई बोरा-बिस्तरा हूं, या जैसे कि यहां रहती ही नहीं।" गालीना के मन में आया।

हिचकोले थम जाने से गालीना को कुछ चैन मिला, पर वह उसी प्रकार कटहरा थामे बैठी रही।

गांव में एक ही सड़क थी–सुनसान और गाड़ियों के पहियों से बनी गहरी लीकोंवाली। ज़मीन के एक गीले टुकड़े में गांव का कुआं दिखाई दे रहा था और उस के चारों ओर जड़े से सफ़ेद हंस। गिरजे के गुंबद मकानों के पीछे से झांकते से मालूम होते थे।

स्टेशन से अब तक के रास्ते में जो सन्नाटा, जो अकेलापन, और चारों ओर जो एक अनबूझी पहेली सी थी, उसमें गालीना खो सी गई। सब कुछ एक तरह से उसके मन को छूता और टीसता रहा। ऐसा अनुभव उसने पहले कभी न किया था। वह इंतज़ार कर रही थी, पर गाड़ीवान से उसने कुछ बात नहीं की।

"ग्रौर हां," घोड़ी को हांकते-हांकते मिख़ाइलो बोला, "मैंने ग्रभी-ग्रभी एक नई टोपी ख़रीदी है।"

"ख़ैर-ख़ैर!"—गाड़ी के कटहरे से हाथ उठाते हुए बूढ़ा बोला, "ग्रच्छा, नमस्ते, ख़ुश रहो! .. स्कूल वह रहा, वहां!"

वे स्कूल के पास तक पहुंच गये।

मिख़ाइलो नीचे कूद पड़ा।

"ग्रो काने, सुनता है, मैं मास्टरनी जी को लेकर लाया हूं, ग्रबे, सुनता है या नहीं?"

वह चाबुक की मूठ से खिड़की की चौखट को खटखटाने लगा।

स्कूल की खिड़कियां खुली थीं, वह वीरान सा लग रहा था। लंबे इस्तेमाल से घिसे-घिसाये डेस्कों ग्रौर दीवारों पर गालीना की निगाह पड़ी।

इसी समय खोखली गहराइयों से खांसी की ग्रावाज़ ग्राई, ग्रौर फिर किसी के पैरों की ग्राहट, जैसे कि कोई भारी पैरों से संभल-संभल कर चला ग्रा रहा हो। कुएं के ग्रास-पास के हंस कूज रहे थे।

एक कुबड़े सा, गोल कंधोंवाला बूढ़ा बरसाती से बाहर ग्राया। वह काना था ग्रौर उसकी भारी सी, चौकोर ठुड्डी कटी हुई सफ़ेद दाढ़ी से भरी थी। उसने ग्रपनी एक ग्रांख से नवागत को देखा। चरमर करता सीढ़ियों से उतरकर गाड़ी के पास ग्राया, टोकरी, पुलिंदा ग्रौर थैला बाहर खींचा ग्रौर सारा सामान चुपचाप स्कूल में ले गया। इस बीच उसकी कोहनियां बाहर की ग्रोर निकली सी लगीं, ग्रौर उसके कंधे ग्रौर भी गोल मालूम हुए!

मिख़ाइलो घोड़ी का पट्टा ठीक कर रहा था।

गालीना गाड़ी में ही बैठी रही। उसके पैर इस तरह सुन्न पड़ गये थे कि उसे खड़े होने में भी डर लगने लगा। सहसा ही उसने ग्रनुभव किया कि वह बहुत ही ग्रकेली है, जैसे कि हर एक ने उसे तज दिया है, जैसे इस दुनिया में किसी को उसकी ज़रूरत नहीं है। सोचने लगी:

"हे भगवान, यहां रहना तो जैसे जंगल में रहना है! .."

उसके बाद उसे रास्ते के ठूंठ याद हो ग्राये—उदास से, यहां से वहां तक फैले-बिखरे।

"यहां तो कहीं कोई जंगल भी नहीं है..."

ग्रब तुरंत थकान ग्रौर सुस्ती छोड़ वह गाड़ी से कूदकर नीचे ग्राई, ग्रौर स्कूल के ग्रंदर चली गई।

स्कूल का वातावरण स्वागत का नहीं था। बड़ा सा क्लास-रूम, धुएं से काली छत, गंद और गर्द से भरे डेस्क, दरार पड़ा काला तख़्ता, और उसके पीछे मक्खियों के निशानों से भरा भू-गोलार्धों का नक़शा, जिस पर अंकित अमरीका का लंबा खिंचा आकार बहुत नीरस और विवर्ण लग रहा था।

गालीना अपने कमरे में आई। कमरा संकरा था, पर उसकी छत ऊंची और मैली सी थी। उसने खिड़की से बाहर देखा – वही सूनी सड़क, वही कुआं, वही आसपास के हंस, और काले-काले घरों की पांत के पीछे वही गिरजाघर।

वह कमरे के बीचोंबीच रस्सी से बंधी अपनी टोकरी के ऊपर बैठ गई। हाथों में ठोड़ी रखकर उसने कोहनियां घुटनों पर टेक लीं।

शहर छोड़ने की उसकी कोई इच्छा नहीं थी। वहां उसके इष्ट मित्र थे, स्कूल में जिनके साथ पढ़कर वह बड़ी हुई थी, वे थे, थियेटर थे, किताबें थीं, उसकी वे सहेलियां थीं, जो अब कॉलेज में पढ़ रही थीं – और, यह सभी कुछ उसे छोड़ना पड़ा था।

उसने तो सपने में भी आशा न की थी कि एक दिन उसका पाला इन फटीचरों से पड़ेगा, और उसे ठोंक-ठोंककर अ-आ-ई इनके दिमाग़ों में भरनी पड़ेगी। फिर, वह उन्हें कुछ कैसे सिखा सकती थी, जबकि उसे इसके लिये न कौशल था, न अनुभव, न इच्छा?

इसी समय कुछ अनजानी, अजीब सी आवाज़ खाली कमरे में सुनाई दी:

"अब तुम्हें यहां रहना तो है ही!"

यह उसके अपने स्वर थे, ख़ाली गूंजते।

वह झटके से उठी, उसने मुंह पर चिपका मकड़ी का जाला हटाया, और रस्सी की गांठ खोलनी शुरू कर दी। गांठ पत्थर सी कड़ी पड़ गई थी।

बिन कूब का कुबड़ा अपने भारी बूटों से खट-खट करता, एक सफ़ेद चीड़ की मेज़ घसीटता कमरे में आया। उसने उसे खिड़की के पास लगाकर रख दिया और हिला-हिलाकर पायों को ज़मीन पर जमा दिया। अंत में कोने में खड़ा हो गया। उसकी कानी आंख गालीना पर थी। गालीना गांठ खोलने की कोशिश कर रही थी। बूढ़े ने गालीना को एक ओर कर दिया

ग्रौर सिर हिलाते हुए दांतों से गांठ खोलने लगा। वह बोला कुछ भी नहीं। वैसे कहने को कुछ था भी नहीं – हर चीज़ जानी पहचानी थी, उदासी से भरा एक वातावरण था, जो महीनों, महीनों तो क्या, सालों की लंबी, ग्रंधेरी क़तार पारकर ग्रकेलेपन से सांय-सांय करते नीरस जीवन में छा गया था।

गालीना बड़े चाव से ग्रपना कमरा ठीक-ठाक करने लगी। उसने पोस्टकार्ड ग्रौर फ़ोटो दीवार पर जगह-जगह जमाकर देखे कि कहां वे ग्रच्छे लगते हैं, ग्रौर कहां नहीं। ग्रंत में उन्हें दीवार पर जड़ दिया, किताबें मेज़ पर सहेजकर रखीं, ग्रौर छोटी-मोटी चीज़ें ग्रलमारियों में सजा दीं। चीज़ें उसके पिछले जीवन के स्मृति-चिह्न थे, जो उसे बहुत प्रिय थे।

कुबड़ा दुबारा कमरे में ग्राया ग्रौर इस बार समोवार ग्रपने साथ लाया। तांबे के उस समोवार पर जहां-तहां ज़ंग लगा हुग्रा था। वह ज़ोरों से खौल रहा था, खुदबुद-खुदबुद कर रहा था, ग्रौर रह-रहकर भाप के बादल उगल रहा था। बूढ़े ने होंठ फिर नहीं खोले। समोवार मेज़ पर रख दिया। गालीना की निगाह खिड़की से बाहर गई – धूल उड़ाते ढोर उधर से गुज़र रहे थे।

गालीना ने समोवार के लिये तो नहीं कहा था, इसलिए उसने कुबड़े की ग्रोर ग्राश्चर्य से देखा :

"तुम यहां के चौकीदार हो?"

"जी, हां," कुबड़े ने उदासी से उत्तर दिया।

"तुम्हारा नाम क्या है?"

"वासीली।"

कमरा ग्रचानक ही ग्रारामदेह ग्रौर मैत्रीपूर्ण लगने लगा।

शुरू के दिन गृहस्थी जमाने की कोशिशों में लग गये – उसे खाने की व्यवस्था करनी थी ग्रौर उसके लिए सामान ख़रीदना पड़ा।

जिस दिन वह यहां पहुंची थी, उसी दिन शाम को गांव के पादरी से मिल ग्राई थी।

कुछ स्त्रियों ने झुककर उसका ग्रभिवादन किया। उन्हें मालूम भी हो चुका था कि वह मास्टरनी है। बाक़ी ग्रौरतें यों ही उसकी बग़ल से गुज़र गईं ग्रौर ग्रागे निकल जाने पर उसे मुड़कर देखती रहीं। ऐसा ही पुरुषों के साथ भी हुग्रा। कुछ ने ग्रादर से टोप उठाये, दूसरों ने उसकी

5*

ग्रोर ध्यान भी नहीं दिया। लड़कियों ने उसे ग्रांख उठाकर तो नहीं देखा, पर जब वह पास से गुज़र गई तो वे रुकीं, ग्रौर पीछे से उसे देखने लगीं।

नया गिरजाघर कुछ ऊंचाई पर था। उसके गुंबद ग्रभी-ग्रभी रंगे गये थे। वे ग्रासमान पर टकटकी लगाये से लगते थे।

पादरी का घर दूसरे घरों की पांत के पीछे था ग्रौर उसके चारों ग्रोर एक बाड़ा था। घर के ग्रलावा वहां एक बाग़ था, ग्रनाज का कोठार था ग्रौर कई ग्रोसारे ग्रौर ग्रस्तबल थे। ग्रस्तबल के पास गोबर ग्रौर लीद के ढेर के बीच से एक ग्रादमी का सिर झांक रहा था। इसके बाल बिखरे हुए थे ग्रौर दाढ़ी काली।

यहीं एक दूसरा व्यक्ति खड़ा था। इस व्यक्ति की दाढ़ी भी काली थी। यही पादरी था, उसका क़द लंबा था। उसने चोग़ा पहना हुग्रा था, उसके गुंथे हुए बाल पीठ पर लटक रहे थे। वह शानदार, मर्दानी ग्रावाज़ में इस तरह ज़ोर से बिगड़ रहा था कि गोबर में चोंच मारती मुर्ग़ियां भी घबराने लगीं ग्रौर उन्होंने ग्रापस में पंचायत छेड़ दी थी।

"क्यों, क्या कर रहे हो तुम यहां? यह गोबर क्या तुम्हारे लिए तैयार करवाया है मैंने? दूसरों की चीज़ उड़ाने का तुम्हें क्या ग्रधिकार है? तुम तो इस तरह ग्रासन जमाये बैठे हो जैसे कि यह घर तुम्हारे बाप का है। चोर तो रात में चोरी करता है, मगर तुम दिन-दहाड़े ग्रांख में धूल झोंकते हो, क्यों? चोरी से बुरा ग्रौर कुछ नहीं है, ग्रौर ईश्वर चोरों को दंड देता है। इस मनमानी-घरजानी के लिए हवालात भिजवाया जा सकता है तुम्हें। ग्रौर, इससे भी बुरा यह है कि तुम्हारी इस करनी पर भगवान कोप करेगा तुम पर!"

"पादरी साहब!" काली दाढ़ीवाले सिर ने पादरी की तरफ़ मुंह कर भारी ग्रावाज़ में कहना शुरू किया, "पादरी साहब! मैंने पाप किया है!.. मैंने पाप किया है ग्रौर मेरी ग्रात्मा ग्रंधेरे में भटक गई है। मेरे मन में ग्रापके लिए बहुत इज़्ज़त है, मैं ग्रापका हृदय से ग्रादर करता हूं, पर, दर्द इस तरह बढ़ गया था कि न बैठे चैन, न खड़े चैन। मेरे लिए सिर्फ़ एक ही चीज़ बाक़ी रही ग्रौर वह थी गोबर-स्नान। फिर, मेरे एक घोड़े की लीद तो इतनी होती भी नहीं कि इस काम ग्रा सके। इसलिए मैं यहां चला ग्राया। मैंने सोचा कि इससे ग्रापका कुछ बिगड़ेगा नहीं, ग्रौर मेरा भला हो जायेगा..."

"पर, बिना पूछे तुम्हारी हिम्मत कैसे हुई?"

सिर हिला, गरदन आगे की ओर फैली, गोबर लुढ़क गया, और पहले गहरे लाल कंधे दिखे, फिर हाथ और फिर सारा शरीर, नंग-धड़ंग, ऐसा तमतमाया हुआ, जैसे अभी-अभी भाप में से नहाकर निकला हो। उसने अपने टेढ़े हुए हाथ जोड़े, सिर झुकाया और विनीत भाव से कहा:

"मुझे बड़ा दुख है, पादरी साहब, क्षमा करो, आशीर्वाद दो।"

गालीना लपककर घर के अंदर घुस गई।

घर में अभी-अभी रगड़कर साफ़ किये गये फ़र्शों और धूप-लोबान की हलकी सी महक थी। लगता था कि घर में बच्चे भी हैं।

छोटे ड्राइंग-रूम में मलमल के परदे पड़े हुए थे, खिड़कियों के दासों पर फूल खिले थे, दीवार पर फ़ोटो और चित्र टंगे हुए थे, और सोफ़े पर गिटार लटक रहा था। पास की गोल मेज़ पर क्रोशिये के काम का मेज़पोश बिछा हुआ था। उस पर ग्रामोफ़ोन बंद रखा था, उसका भोंपू टूटा और पिचका हुआ था। बग़ल के कमरे से खेलते बच्चों की हंसी और शोर की आवाज़ें आ रही थीं।

पादरी की पत्नी ने बड़े स्नेह से गालीना का स्वागत किया। आठ बच्चों के बाद उनका शरीर कुछ भारी हो गया था, फिर भी वह हृष्ट-पुष्ट तथा गोरी महिला थीं। उनकी बड़ी सुंदर काली आंखें थीं। बोलीं: "आओ, आओ! बड़ा अच्छा किया जो आ गईं। हमारे यहां नये लोग आते हैं तो हमें बहुत अच्छा लगता है। वे अभी-अभी ज़रा देर में आ जायेंगे... यहां तो बड़ी उदासी रहती है। और तुम तो युवा हो, गालीना। मैं तुम्हें इसी नाम से पुकारूंगी। बुरा तो नहीं मानोगी न? आख़िर उम्र में मैं तुमसे बहुत बड़ी हूं। तुम्हारा तो सारा जीवन है अभी तुम्हारे सामने... लीदा, जाओ, पापा को बुला लाओ। यह मेरी सबसे बड़ी लड़की है, इसे कसीदाकारी करना बहुत अच्छा लगता है।"

बड़ी-बड़ी, गहरी, नीली, प्रश्नभरी सी दो आंखें गालीना की ओर उठ गईं। उन आंखों में बचपन न था, बल्कि उनमें बड़ी उदासी सी थी। वैसे तो यह उदासी उसके सारे पीले चेहरे से ही टपकती थी। मां ने बच्ची का सिर बड़े प्यार से चूमा और बच्ची एक पैर से लंगड़ाती कमरे के बाहर चली गई। गुलाबी रिबन उसकी पीठ पर लटक रहा था। यह रिबन मां ने बड़े शौक़ से उसके बालों में बांध दिया था। मां बोली:

"इसे हड्डियों की तपेदिक हो गई है... घुटनों में है... तक़दीर फूट गई समझो... पादरी साहब ज़रा देर में ग्राते ही होंगे। इस समय वे बहुत उत्तेजित हैं। गोबर के ढेर में वह ग्रादमी बैठा था न... देखो, किसी से इस बारे में कहना मत, गालीना," उसने ग्रपनी ग्रावाज़ धीमी करते हुए कहा, "हमने उसपर विश्वास किया, हमने सोचा था, वह ईश्वर से डरता है ग्रौर पादरी को मानता है... ग्रनिस्का, बच्चे को पालने में से उठा लो – उसके रोने की ग्रावाज़ नहीं सुन रही क्या तू?.. हम उसपर कितना विश्वास करते थे! जब भी वह हमारे यहां ग्राता था, हम उसे चाय पिलाते थे, ग्रौर तीज-त्यौहार पर पादरी साहब उसे गिलास भर शराब भी देते थे... बच्चे ने क्या गीला कर दिया? ग्रच्छा, ज़रा बदल दो उसके कपड़े... पर, वह... देखो, गालीना, किसी से भूल कर भी कुछ न कहना, यह बात किसी से कहने की नहीं है, पाप-स्वीकरण को गुप्त रखना पड़ता है... तुम जानती हो कि पादरी को कैसे ग्रौर कितना..."

बच्चे को उलटा-सीधा गोद में उठाये ग्रनिस्का दरवाज़े के कोने से झांक रही थी। उसकी उम्र कोई चौदह साल की थी, ग्रौर उसके शरीर पर, चेहरे पर झांईं थीं।

"हमारे यहां तीन कुम्मैत घोड़े थे। हमें वे इत्तफ़ाक़ से ही मिल गये थे। बड़े ही ग्रच्छे जानवर थे, पादरी साहब को घोड़ों का बड़ा शौक़ है। एक दिन सुबह हम सोकर उठे तो हमने देखा कि ग्रस्तबल के फाटक का ताला टूटा पड़ा है, दरवाज़े चौपट खुले पड़े हैं, ग्रौर घोड़ों का नाम-निशान तक नहीं है। यह समझो कि उस डाके से हमारी तो जान निकल गई। पादरी साहब तो रोने लगे। मैं भी रोई थी। मैं बोली: 'तुम्हें घोड़े मुझसे ज़्यादा प्यारे हैं।' इस पर वे बिगड़ उठे, ग्रौर हम दोनों में झगड़ा हो गया.... हमने घोड़ों को ढूंढ़ने के लिए कोना-कोना छान मारा, पुलिस को इनाम देने का वायदा किया, ग्रौर मैंने तो पाप भी कर डाला – मैं ज्योतिषी के पास गई... गाश्का, तुमने रोटी तंदूर में रख दी?"

इसी समय मकान के ग्रन्दर से रसोई की महक के साथ-साथ ग्रावाज़ ग्राई:

"ग्रभी रख रही हूं!"

"ग्रच्छा, जाग्रो, ख़मीर उठ ग्राया हो तो, तंदूर लगा दो... ग्रौर, इस तरह घोड़ों से हाथ धो लिया हमने – यह तो हुग्रा पिछले साल।

इस साल जानती हो क्या हुआ? पैशन-सप्ताह में वह बीकोव आया और अपना अपराध स्वीकार करते हुए बोला—'धर्मपिता, मैंने पाप किया है, मेरी आत्मा को पाप-मुक्त करो,—तुम्हारे तीनों कुम्मैत घोड़े मैंने चुराये थे, मेरा पाप...'—इस पर पादरी साहब ऐसे भौचक्के से रह गये कि उनका खड़ा रहना मुश्किल हो गया। उन्होंने जल्दी ही उसके सीने पर पाप-क्षमा का प्रतीक सलीब बनाकर उसे आशीर्वाद दिया... पादरी साहब मेरे पास आये तो उनका चेहरा काला पड़ा हुआ था। उन्होंने मुझे सारी कहानी सुनाई। मैं हाथ मलकर रह गई। हे भगवान, ज़रा सोचो तो!.."

"आपको पुलिस को ख़बर करनी चाहिए थी।"

"हम कैसे कुछ कर सकते हैं, प्रभु की वेदी के सामने की पाप-स्वीकृति गुप्त रहती है। जानती हो, ऐसे समय दोस्तोयेव्स्की का ध्यान आता है—हमें अपने तक रखनी पड़ती है, हमें तकलीफ़ होती है, पर हम करें क्या, हम होठों के बाहर कुछ निकाल नहीं सकते। अगर एक शब्द भी मुंह से निकल जाये तो सारे गांव में फैल जायेगा कि लीजिये साहब, जो बातें प्रभु के सामने स्वीकार की जाती हैं, पादरी साहब उन्हें भी इधर-उधर कहते फिरते हैं। यही बात है कि हम इस मामले में मुंह सिये रहते हैं। और, यह वही बीकोव है जो इस समय हमारे गोबर में बठा हुआ है... अनिस्का, बच्चे को बाहर आंगन में ले जाओ... और, पादरी साहब से कहना—मां बुला रही हैं... ओह, लो, वे आ ही गये।"

पादरी ने दरवाज़े में से निकलने के लिए सिर झुकाया, और आवाज़ करते अंदर आये। आते ही उन्होंने गालीना का अभिवादन इतने ज़ोर-शोर से किया, जैसे कि वह उसे बहुत पहले से जानते हों। उन्होंने उसके छोटे से हाथ को अपने बड़े, मज़बूत हाथों में लेकर ज़ोर से दबाया।

पादरी ऐसे लंबे थे, देखने में अच्छे लगते थे, काली दाढ़ी से ढंके उनके धूप से तपे गालों पर इस तरह स्वास्थ्य दमकता था कि उन पर चोगा बड़ा अजीब-अजीब सा लगता था।

"आओ, बैठो, शहर के सारे हालचाल सुनाओ। यहां तो बड़ा सन्नाटा रहता है, हम तो बड़ी सूनी-ख़ाली ज़िंदगी बिताते हैं। मुझे याद है, जब मैं विद्यार्थी था... क्यों, मां, कुछ चाय-वाय मिलेगी?"

"आ रही है... गाश्का, कितनी देर और लगेगी?"

"बस, ला रही हूं!" गाश्का ने उत्तर दिया।

पादरी बोले: "मुझे याद है कि जब मैं विद्यार्थी था तो... वैसे विद्यार्थी तो मैं क्या था... यह समझो कि धर्मविज्ञान सेमीनरी में था..."

"दिमीत्री इवानोविच," पादरी की पत्नी बोलीं – वे जब पुराने दिनों की याद करतीं तो प्रायः पूरा नाम लेतीं, जिससे वंश ग्रौर पिता का भी पता चलता – "दिमीत्री इवानोविच तो उन दिनों सपनों में विश्वविद्यालय देखा करते थे। शुरू-शुरू में तो दिन-रात किताबों में ही जुटे रहते थे कि किसी तरह विश्वविद्यालय में दाख़ला मिल जाये, यह तो पादरी वृत्ति भी छोड़कर जाने को तैयार थे। ग्रौर, मैं सोचती... यह चोग़ा तो मुझे ज़रा भी नहीं सुहाता था। मेरी इनसे शादी हुई तो मैं स्कूल में पढ़ रही थी। ख़ैर, तो हम यहां ग्रा गये, ग्रौर तब से ग्रब तक यहां रह रहे हैं, जैसे कैंप-जीवन के लिए निकले हों। यों तो हम किसी भी दिन यहां से जा सकते हैं, काम तो किसी न किसी तरह चल ही सकता है, यह विश्वविद्यालय जा सकते हैं, ग्रौर इस तरह ज़िंदगी एक नई करवट ले सकती है, पर मेरे ग्राठ बच्चे हो चुके हैं, ग्रौर लगता यह है कि उनके लालन-पालन के लिए हमें यहीं रहना पड़ेगा... गाश्का, इधर रखो... यहां... बेहूदी कहीं की, फिर मेज़पोश फंसा लिया!"

गाश्का देखने में स्वस्थ लड़की थी, उसके भरे हुए गुलाबी गाल ऐसे कड़े थे कि उनकी चुटकी न ली जा सकती थी। उसके शरीर पर एक भद्दा-सा शहराती ब्लाउज़ था, जिससे उभरे हुए स्तन फूटे से पड़ते थे। उसकी ग्रांखें टकटकी बांधे सी लगती थीं। मुस्कान तो जैसे उसके होठों पर बनी ही रहती थी। बटन में फंसे मेज़पोश को उसने मेज़ से पूरी तरह ही खींच लिया था। उसे फिर से मेज़ पर बिछाने के लिए गाश्का ने तश्तरी-प्यालों से भरी चाय की ट्रे जल्दी ज़मीन पर रख दी।

"तुम्हारा दिमाग़ बिलकुल ख़राब हो गया है क्या? उठाग्रो ट्रे।"

गाश्का की ग्रांखें डर के मारे ग्रौर बड़ी हो गईं। पर, दूसरे ही क्षण वह मुस्करा उठी, ग्रौर उसने ट्रे ज़मीन से उठा ली। मालकिन ने बड़े ग़ुस्से में मेज़पोश मेज़ पर फिर से बिछा दिया। बोलीं:

"तुम क्रीम लेती हो, गालीना? यहां के नौकर-चाकर बड़े दुखदायी हैं, – उस चुड़ैल को देखा न तुमने ग्रभी? हर चीज़ तोड़-फोड़ डालते हैं, हर चीज़ की दुर्गति कर देते हैं, न कुछ पकाना जानते हैं, न सेंकना... ग्रौर इतने दुराचारी!"

"पूरे दरियाई घोड़े," पादरी ने बीच में बात काटी।

पत्नी कहती गईं:

"कल मैंने केक बनाने की सोची थी। केक के लिए सेब कस रही थी कि बच्चों ने चीख़-पुकार मचाई तो ज़रा देर को वहां से उठ गई... लौटकर आई, तो देखा कि गाश्का रानी आधा सेब तो साफ़ कर चुकी है,—ख़ुद ही सोचो कि कोई मुट्ठी भर-भरकर भकोसता जाये, तो फिर बचेगा क्या..."

"यह सच नहीं है!"—दरवाज़े के पीछे से गंवारू तेज़ आवाज़ आई कि सारा कमरा गूंज उठा—इसी समय दो फैली हुई आंखें दरवाज़े के पास से झांकती सी लगीं। बोलनेवाले का चेहरा पसीने से तर-बतर हो रहा था,—"मैंने तो सेब बेंच पर रख दिया था, पर कुत्ता आ गया और..."

"तुम्हारा दिमाग़ तो बिलकुल ख़राब हो गया है!.. जाओ, रसोई में काम करो।"

"और कुत्ता आया, और चट कर गया।"

वे सब चाय पीने बैठे। तश्तरी में पनीर की केकों का अंबार लगा हुआ था। केक ऐसी थीं कि मुंह में गईं कि घुलीं। मालकिन ने अपने हाथों से बनाई थीं।

बच्चे एक-एक कर अंदर आये और अपने-अपने क़द के हिसाब से, हक्के-बक्के से, मां-बाप के चारों ओर खड़े हो गये। उनकी निगाहें शहर के बिस्कुटों पर जम गईं, जो एक तश्तरी में अलग रखे हुए थे।

पादरी और उसकी पत्नी ने गालीना से शहर के बारे में तरह-तरह के सवाल किये, पर जवाब एक का भी नहीं सुना। बीच-बीच में वे बराबर अपनी सुनाने के लिए उसे टोक देते थे। इलाक़े की दशा बुरी नहीं है, लेकिन फिर भी कुछ कट्टरपंथी तो उसमें हैं ही, फिर ऐसे आर्थोडाक्स ईसाई हैं, जिन्होंने गिरजे से संबंध तोड़ लिया है, और जिन्हें रस्सी से बांधकर भी वापस नहीं लाया जा सकता। स्वाभाविक है कि इस तरह के लोगों से भला पादरी क्या इकट्ठा कर पायेगा—जैसे बकरी का दूध। मोटी बात यही है कि उनसे पैसा जमा करने का काम कठिन और अप्रिय है। पादरियों की तनख़्वाहें बंध जायें, तो ज़्यादा अच्छा हो।

जहां तक आम लोगों का सवाल है, वे भले हैं... पर, वे बाड़ा

पारकर बाग़ में फांद आते हैं, और सेब चुरा ले जाते हैं; कटाई करने के लिए कहो तो पादरी से भी उतना ही मांगते हैं, जैसे औरों से। बड़ी मुश्किल है।

मां ने सब बच्चों को एक-एक बिस्कुट दिया। वे खिल उठे और कमरे से भाग गये। सबसे छोटे बच्चे की कमीज़ पतलून से बाहर निकल आई थी, जो पीछे एक दुम सी लटक रही थी।

बच्चों की तरफ़ देखती गालीना पोतड़ों की गंध अनुभव कर सकती थी। उसने मन ही मन सोचा :

"और यही अंत है, — ये लोग यहां से कभी कहीं नहीं जा सकेंगे।"

मां ने एक-एक कर सभी बच्चों को सुला दिया। केवल लीदा जाग रही थी और मेज़ पर बैठी अपनी बड़ी-बड़ी, खोई-खोई सी आंखों से सब कुछ देखती समझती रही।

किसी की बत्ती जलाने की इच्छा न हुई। वे सब सांझ के धुंधलके में बैठे रहे। खुली खिड़की के आगे जिरैनियम के फूल खिल रहे थे और उनमें से गली, मकानों और काली छतों की धुंधली-धुंधली सी झांकी दिख रही थी। इन सबके पीछे शाम का मंद प्रकाश था। हर ओर एक शांति सी छा गई। दूर कहीं कोई कुत्ता भूंकने लगा। और दूर कुछ लड़कियां गा रही थीं। दूरी के कारण उनके स्वर हल्के, मधुर और कोमल हो उठे थे।

"किताबों में क्या-कुछ नया आया है?" — गहरी, बिना दूध की चाय की चुस्की लेते हुए पादरी दिमीत्री ने पूछा। फिर बोले — "मुझे याद है, जिन दिनों मैं सैमिनरी में पढ़ता था, उन दिनों मैं तो बोर्डिंग में रहता था, पर जो विद्यार्थी घर से आते थे, वे 'रूस्स्कोये बोगात्सत्वो'* ले आते थे। बस, रात के समय जब व्यवस्थापक चक्कर लगाकर चला जाता, और हर ओर शांति छा जाती तो हम चुपके चुपके उठ जाकर, कुर्सियों का घेरा बनाकर, ऊपर से कंबल चढ़ाकर तथा अंदर मोमबत्ती

---

*'**रूस्स्कोये बोगात्सत्वो**' (रूसी वैभव) — उदारतावादी-नरोदवादी प्रवृत्ति की एक साहित्यिक तथा वैज्ञानिक मासिक पत्रिका, जिसका प्रकाशन १८७६–१९१८ में पीटर्सबर्ग से होता था। — **सं०**

जलाकर ऐसे बैठ जाते तथा पढ़ते जैसे किसी चित्र में बैठे हज़रत मूसा ईश्वरीय-न्याय में भाग ले रहे हों। अब पत्रिका पढ़ी जाती; और उस पर बहस-मुबाहिसा छिड़ जाता। हम अपने आपे में न रहते, और ऐसे गरम हो उठते, ऐसा शोर मचाते कि एक बार को मुर्दा भी उठकर खड़ा हो जाता। हम पकड़े तो जाते ही थे और बस मुसीबत शुरू। उन दिनों बड़ी सख़्त सज़ा दी जाती थी।"

पादरी की पत्नी बोल उठीं—"गालीना, तुम तो कुछ खा नहीं रहीं। तो, ये टिकियां ही खाओ, ले लो, अपने हाथ से, जितना जी चाहे उतना... लीदा, तुम थक गई हो, अच्छा हो कि तुम जाकर सोओ!"

"नहीं, मां, मैं तुम्हारे साथ बैठूंगी," लड़की ने कहा, और उसकी आंखें सांझ के धुंधलके में और बड़ी लगने लगीं, जैसे कि वे अपने माता-पिता के अनजाने अतीत को भेदने की कोशिश कर रही हों।

समोवार लगभग बुझ गया था, पर सहसा ही उसमें से गुनगुनाहट आने लगी। पादरी की पत्नी परेशान हो उठीं:

"ढक्कन कहां है? कहां है ढक्कन?"

उन्होंने समोवार ढक दिया तो पानी का गुनगुनाना बंद हो गया। बोलीं:

"यह अच्छा सगुन नहीं है।"

"भूत-प्रेत से डर रही हो या कुछ और?"—पादरी ने पूछा।

"भूत-प्रेत हों और चाहे न हों, तुम्हें इस तरह हंसी नहीं उड़ानी चाहिए। मुझे बेकार की बकवास पसंद नहीं।"

वह सहसा ही गरम हो उठीं:

"तुम्हें कुछ न कुछ बकवास चाहिए!.. अच्छा, बत्ती जला दी जाये, अंधेरा हो गया है।"

"नहीं, बत्ती की ज़रूरत नहीं," पादरी ने कहा। इसके बाद वह उठे, उन्होंने दीवार से गिटार उतारा और सोफ़े पर बैठकर स्वर मिलाने लगे।

"कम से कम अपने माथे पर सलीब का निशान तो बना लो," चाय की मेज़ साफ़ करते हुए पत्नी ने कहा।

पादरी खांसे, उन्होंने गिटार पर धुन छेड़ी और गाने लगे:

"हंसती हुई घाटियों, ऊंचे पहाड़ों पर..."

कमरे की छत नीची थी, वह उनकी मख़मली आवाज़ से भर उठा – आवाज़ जितनी सशक्त थी, उतनी ही कोमल – शायद उदास भी।

भूला-बिसरा, पुराना गीत जितना सरल था, उतना ही मर्म-स्पर्शी। उसमें एक अजीब दर्द सा था, स्मृतियों का या अनुताप का। यह भी हो सकता है कि पादरी को अपने स्वर के माधुर्य की क्षमता का ज्ञान हो, और उन्होंने स्वर को इस प्रकार साधकर और नियंत्रित करके गाया कि वह सुखद कमरे में ही समा जाये, जिसमें धूप-लोबान की हलकी गंध थी, जिसमें यौवन बीता था और आशाएं मुरझाईं थीं।

"युवा कोई सैनिक ज्यों
जागरूक पहरे पर..."

पादरी की पत्नी, लीदा को सीने से लगाये, ठंडे समोवार के पास बैठी थीं। धुंधलके में उनका चेहरा नज़र न आ रहा था। परछाईं लंबी होकर भद्दी लगने लगी थी। उनकी काली छाया-आकृति या तो थकी थी या चिंतन के कारण निश्चल थी।

"मेरे साथ तो ऐसा नहीं होगा," लड़की ने सोचा, पर बिना जाने कि 'ऐसा' से उसका क्या मतलब था।

पादरी ने फिर गिटार के स्वर मिलाये, और बीच-बीच में छेड़े तार की अपनी संगत करते हुए 'सादको' ऑपेरा से वाइकिंग व्यापारी का गीत शुरू किया।

वह अब गांव का पादरी नहीं लग रहा था – धूमिल प्रकाश में विश्वविद्यालय में जाने की तैयारी करते सैमिनरी के किसी सुंदर युवक का आकार व्यक्त हुआ – नहीं, सैमिनरी (धार्मिक विद्यालय – **सं०**) छात्र का भी नहीं, अभिनेता का। अब कल्पना उभरी कि थियेटर पूरा भरा है, वहां लोगों के चेहरे कुछ पीले लग रहे हैं, और गायक के मधुर-सुरीले और सक्षम स्वर से मंत्र-मुग्ध से, ध्यान-मग्न से प्रतीत हो रहे थे।

"बस करो!" – पत्नी की अप्रसन्न आवाज़ आई – आवाज़ तेज़, साधारण और स्वाभाविक थी। सच तो यह है कि आवाज़ में दुनियादारी ऐसी थी कि उसमें गायक के स्वर डूब गये थे। – "सांझ की बेला हो आई – देखो, कितना अंधेरा हो गया है। जब ये गाते हैं तो गाते ही चले

जाते हैं, रुकने का नाम ही नहीं लेते। कल बहुत ही सुबह इन्हें रूबल उगाहने पुज़ोवका जाना है!"

लैंप का शीश खनका, दियासलाई जली, और खिड़कियां उदास अंधेरे से घिर गईं।

बच्ची अपने पिता की ओर देख रही थी। उसकी बड़ी-बड़ी आंखें विस्मय और आश्चर्य से चमकती रहीं। पादरी दिमीत्री के भारी-भरकम शरीर पर रेशमी काला चोग़ा अजीब लग रहा था और उन पर फब नहीं रहा था। उठकर, गिटार दीवार पर टांगकर वे बच्ची के सिर पर हाथ फेरने लगे।

"जाओ, अब सो जाओ, लीदा।"

गालीना सूनी सड़क पर आई, और अपने घर की ओर चल पड़ी। गांव की हद पर कुत्ते भूंक रहे थे। उसके बाईं तरफ़ के नींद में सोये घरों की काली आकृतियों ने तारों भरे आकाश को छिपा लिया था।

"बड़े भले लोग हैं दोनों के दोनों... पादरी की आंखें बिलकुल काली हैं... और, पत्नी ने माध्यमिक विद्यालय की शिक्षा पूरी की है... सब कुछ कितना विलक्षण सा है यहां..."

अंतर्विरोध की अनुभूति फिर लहक उठी—पता नहीं क्यों, उसकी कल्पना में गांव, यहां का पुरोहित, उसकी पत्नी, सफ़ेद हंस सब कुछ और तरह के थे...

"पर, किस तरह के?"

इस सवाल का जवाब उसके पास न था।

सुबह से ही स्कूल में स्त्रियों, पुरुषों और बच्चों की भीड़ लगने लगी। लोग बरसाती तक में जमा हो गये, और खिड़कियों के नीचे से लगातार बोलने की आवाज़ आ रही थी।

खिड़कियां खुली थीं, पर इस पर भी क्लास के बड़े कमरे में बड़ी घुटन थी। औरतें अपने तमतमाये हुए चेहरे रूमाल के कोनों से पोंछ रही थीं, आदमी अपने गीले बालों में उंगलियां फिरा रहे थे। उनकी नाकों की नोकों पर पसीने की बूंदें थीं।

"कृपया मेरे चारों ओर भीड़ न लगाइये—आप इस तरह मुझे घेर लेंगे तो मैं लिखूंगी कैसे?"

कमरे के बीच में बैठी गालीना चारों ग्रोर लोगों से घिरी नज़र भी नहीं ग्रा रही थी। मेज़ के पास बैठी, लाइनदार कॉपी में नाम लिखती जा रही थी–थकी सी, उसका चेहरा तमतमाया था।

"कुलनाम? पहला नाम? उम्र?"

घोड़े की सी शकल की एक ग्रौरत छोटे से बच्चे को मेज़ के पास लाई–हर तरह वह ग्रपनी बात रखती थी, ग्रौर हर शब्द पर ऐसे सिर हिलाती थी, जैसे कौवा चोंच मार रहा हो।

"फ़िलिमोन... लिख लीजिये... यही इसका नाम है... क्या?.. यह बड़ा शैतान है... सारे पड़ोसियों की नाक में दम किये रहता है... क्या?.. जी हां, छः साल, छः साल का है, शरद्-निकोलस के दिन* सात साल का होगा... क्या? क्या करूं मैं इसके साथ, ऐं?.. क्या?.. मेरा ग्रादमी नहीं है, विधवा हूं... लड़का हाथ से निकल गया है... ग्राने दीजिये स्कूल में... दिन भर स्कूल में रहेगा तो मुझे भी कुछ चैन मिलेगा, हर घड़ी निगाह रखनी पड़ती है..."

"बच्चे स्कूल में पढ़ने के लिए भेजे जाते हैं–देख-भाल ग्रौर संभाल के लिए नहीं... फिर, यह बच्चा तो बहुत छोटा है, मैं इसका नाम नहीं लिख सकती, यह तो ग्रभी सात साल का भी नहीं है।"

कौवा फिर चोंच मारने लगा। उस ग्रौरत की नाक कौवे की चोंच जैसी थी, ग्रौर उसका सिर बिलकुल कौवे के सिर जैसा था। गरमी होने पर भी उसने सिर पर काला शाल लपेट रखा था।

"क्या कह रही हैं ग्राप? मैं इसका क्या करूं ग्राख़िर?.. इन्हें बड़े बच्चे चाहिए!.. बड़े बच्चे तो हर जगह काम के होते हैं, घोड़े के साथ भेज दो, खेत-खलिहान में काम करा लो, घर पर ही कौन कम काम होता है, बड़े बच्चों की हमें ज़रूरत है..."

"मुझे जो कहना था, मैंने कह दिया... मुझे कोई मोल-भाव तो करना नहीं है ग्रापसे... क़ायदे के हिसाब से सात साल से कम उम्र के बच्चों को मैं भरती नहीं कर सकती..."–कौग्रा सिर से हुंकारता रहा:

---

*पुराने ज़माने में रूस में संत-निकोलस के दो पर्व मनाये जाते थे–एक, शरद्-निकोलस, ६ दिसंबर को, दूसरा ग्रीष्म-निकोलस, ९ मई को। –ग्र०

"हां, हां..."–"और आपका फ़िलिमोन तो छः ही साल का है... हां, अब किसकी बारी है?"

उस औरत ने गालीना की ओर इस तरह देखा, जैसे कि कह रही हो–"मैं समझती तो सब कुछ हूं मगर, जाओ माफ़ कर दिया।" पास ही एक किसान अपनी बारी के लिए खड़ा था। औरत ने कौवे की तरह गरदन मोड़ी, किसान की ओर पीठ की, अपना स्कर्ट उठाया और पेटीकोट से एक गंदा रूमाल खींचकर निकाला। रूमाल में दोहरी गांठ लगी हुई थी। अब मेज़ से पेट सटाकर वह रूमाल की गांठ खोलने की कोशिश करने लगी। उसमें से थोड़ी सी रेज़गारी में से उसने एक रूबल का नोट निकाला। नोट कई तहों में मुड़ा और वह इतना गंदा था कि पहचाना भी नहीं जाता था। औरत ने नोट खोला, मेज़ पर रखा, हाथ से दबाया कि कहीं उड़ न जाये, और ऐसे बोली जैसे कि बहुत बड़ी बाज़ी जीत गई हो, और मास्टरनी को प्रश्रय दे रही हो:

"लीजिये, रख लीजिये इसे।"

गालीना की आंखें अचरज से फैल गईं।

"यह क्या है?"

औरत ने रूमाल में दोहरी गांठ लगाई, और उसे फिर पेटीकोट में ख़ोंस लिया और बोली:

"बड़ा दिन आने दो, तब जो जानवर काटे जायेंगे, उन में से मैं तुम्हारे लिए एक बत्तख़ ले आऊंगी, उसके रोयों से अगर कोई बहुत बड़ा नहीं, अच्छा-ख़ासा छोटा सा तकिया ज़रूर बन सकता है तो... समझीं?"

गालीना ने बात समझी। उसका चेहरा ही नहीं, कान भी लाल हो गये, बल्कि बालों के छल्लों से ढकी गरदन तक लाल हो गई।

"निकल जाओ यहां से... फ़ौरन निकल जाओ!.. आपका मतलब क्या है? आपको शर्म आनी चाहिए..."–उसने नोट किताब पर से झटक दिया–"आपको शर्म करनी चाहिए!"

औरत ने मेज़ के सिरे से नोट उठा लिया और फिर क्रुद्ध या चकित होकर चारों ओर देखते हुए बोली:

"यह क्या कर रही हैं आप? पागल तो नहीं हो गई हैं?.. रूबल क्यों फेंक रही हैं इस तरह इधर-उधर?.. बहुत पैसेवाली हो गई हो, न?"

"जाओ... निकल जाओ यहां से! .. सुनते हो, निकाल दो इसे यहां से।"

"जब तुमसे कहा गया है तो जाओ यहां से," – चारों ओर खड़े लोग चिल्लाये – "इतने लोगों के सामने तुम यह कैसे कर सकती हो? आसपास कोई हो, तो आदमी क्लर्क तक को तो कुछ नहीं देता... दे तो जान पर आ जाये... कैसे तुम ऐसा कर सकती हो?"

गालीना की मेज़ के आसपास से फिर वही आवाज़ें आने लगीं – औरतों और मर्दों की खेत-खलिहान में चिल्लाते-चिल्लाते कुछ बैठी, कुछ नम्र आवाज़ें: अफ़िनोगेनोव, तल्दीकिना, ज़ासुपोनिकोव, स्कोरोमीस्लोव...

आख़िर इतने सारे लोग आ कहां से गये? गांव तो इतना बड़ा है नहीं, निश्चय ही ये लोग आस-पड़ोस के गांवों से आये होंगे... उसका गला सूख चला, और उसे अपने मुंह में बीमारी का सा स्वाद आने लगा।

हे भगवान, कब ख़त्म होगा यह?

आख़िरकार, जब चौवन बच्चों के नाम लिखे जा चुके तो गालीना बोली कि बस, काफ़ी हैं।

जिन लोगों के बच्चों के नाम नहीं लिखे जा सके, उन्होंने लंबी सांसें लीं, कुछ देर तक इस बारे में बातें कीं और फिर अपने-अपने घर लौट गये।

औरतें ज़रा और देर तक रहीं। कुछ ने लंबी सांस ली। कुछ रोने लगीं। और अंत में रोने से लाल हुई आंखें पोंछ अपने-अपने घर चली गईं। कमरा ख़ाली हो गया, पर कमरे में घुटन उसी तरह बनी रही। गर्द-गुबार से भरा फ़र्श नज़र आने लगा। सब के जाने के बाद भी तीन औरतें रुकी हुई थीं, और उनके साथ थीं तीन लड़कियां और एक लड़का।

इन में दो औरतें तो चुपचाप, अनमनी-सी, इस तरह खड़ी रहीं, मानों उन्हें किसी बात का इंतज़ार हो। एक गर्भवती औरत, जिसकी गोद में एक मैला सा बच्चा था, चिल्लाने लगी:

"यह क्या है? मास्टरनी ने कुछ के बच्चों के नाम तो लिख लिये, पर हमारे बच्चों के लिए इसके यहां जगह नहीं है! सारी दुनिया जानती है कि फ़ोस्का की मां का ब्याह भी नहीं हुआ है, लेकिन इन्होंने उसकी फ़ोस्का को तो ले लिया, पर अपने मां-बाप के पास रहनेवाले असल के बच्चों को नहीं लेतीं। बड़ी आई क़ायदे-क़ानून बनानेवाली! कान खोलकर

सुन लो! तुम जैसे बहुतेरे हमें क़ायदे-क़ानून सिखाने आते हैं। अमीरों के बच्चे कैसे पढ़ना-लिखना सीख जाते हैं और ग़रीबों के बच्चों के लिए स्कूलों में जगह क्यों नहीं है? और, बनती यह ऐसी हैं, जैसे कि लिखाना-पढ़ाना सचमुच आता ही है इन्हें। अपना बिसाती अगर इनके हाथ में एक कंघा और दो रिबन चुपचाप थमा दे, तो रानीजी मुंह न खोलें और सारी रात बिता आयें उसके पलंग पर। भला उल्यानोवका में मास्टर ने सब बच्चों को कैसे भरती कर लिया था? और यहां यह इतराये जा रही हैं... आख़िर इस बच्चे का क्या करूं मैं?" — वह क्रोध से फूट पड़ी, और आंसुओं में मन का ज़हर बह चला।

"तुम्हारा हिम्मत कैसे पड़ी?.. क्या-क्या बके जा रही हो तुम?.. वासीली, भला गांव के मुखिया को तो बुलाओ और बाहर निकालो इन्हें!.."

"भई, वाह!" — औरत बच्चे को इस तरह हचकाने लगी, जैसे अपराध उसी का हो। वह गरजी — "ओहो, ये बातें आपको पसंद नहीं हैं!.. हमारा ही ख़ून चूस-चूसकर मुटाती हो... ऐसी बढ़िया जगह जो मिल गई है, सारी ज़िंदगी बिता सकती हो न?.."

दिन गुज़रते जा रहे थे — एक के बाद एक — एक जैसे। गालीना देखती — सूरज हर रोज़ गांव के अंतिम मकान के पीछे से दायां काटता निकलता — अपनी लंबी, तिरछी, ठंडी किरणें खिड़की तक डालता। हर दिन सुबह दीवार की दूसरी ओर से चीख़-पुकार, पैर पटकने की आवाज़ और आम शोर-गुल के स्वर उभरते। जब तक गालीना क्लास में पहुंचती, तब तक हवा भी निश्चल, घनी और भारी हो चुकी होती थी।

उसने पैर अंदर रखा कि पचास आंखों के जोड़े एक साथ उसकी ओर जम गये। उसे उन तक पहुंचने का उपाय खोजना था। किसी न किसी तरह पढ़ाई शुरू करनी तो थी ही। दृश्य विधि ही ठीक रहनी चाहिए।

उसने किताब खोली, पेड़ की एक तस्वीर ढूंढ़ी, ऊपर उठाकर दिखलाई और पूछा:

"अच्छा बच्चो, बतलाओ, इस तस्वीर में क्या है?"

सब किताब की ओर न देखकर उसकी ओर देखते रहे, और ज्यों के त्यों गुमसुम बैठे रहे।

"तस्वीर में क्या है? अरे, बोलो, बताओ, न? यह घर है क्या?"

"घर! .."—सारे के सारे बच्चों की एक साथ, गूंज की तरह आवाज़ आई।

"यह कैसा घर है? अच्छी तरह देखो इसे—ऐसा घर पहले कभी तुमने देखा है? अच्छा, तो बोलो, क्या है यह?"

फिर वही हठीला मौन। पचास के पचास ज़िद्दी से उसी तरह उसकी ओर टकटकी लगाये रहे—बिना पलक झपकाये।

"हां, तो, यह क्या है? पेड़ है?"

"पेड़! .." सब तरफ़ से इकट्ठी आवाज़ आई।

"ठीक, अब यह देखो, यह क्या है?"

वे फिर चुपचाप उसकी ओर घूरते रहे।

"अच्छी तरह देखो इसे, ईश्वर ने आंखें दी हैं तुम्हें। यह क्या है?"

मौन।

"हे भगवान, ये कैसे बेज़ुबान, काठ के चेहरे हैं..."

"बतलाओ, यह क्या चिड़िया की तरह है?"

"चिड़िया की तरह! .." पचासों स्वर एक साथ गूंजे।

"यह कैसी चिड़िया है? तुमने कभी देखी है ऐसी चिड़िया जो बमों के बीच जुती खड़ी हो, जिसके गले में पट्टा हो, और जिसके पीछे एक गाड़ी हो? बोलो—यह क्या है?"

वे फिर गुमसुम होकर उसकी ओर एकटक देखने लगे—यानी यह कि वह उन्हें मार भी डालती, तो भी उनके मुंह से आवाज़ न फूटती।

"तुम्हें घोड़ा दिखाई नहीं पड़ता? तुमने क्या कभी घोड़े नहीं देखे?

"घोड़ा..."—सब ने मान लिया।

इस प्रकार वह उनसे तब तक जूझती रही जब तक कि थककर चूर नहीं हो गई, और गला जवाब नहीं दे गया। पर, वे या तो भूत से जड़ बने बैठे रहे, या कुएं की आवाज़ की तरह उसी का कहा दोहरा देते।

शिक्षाशास्त्र, जिस शिक्षाशास्त्र में उसने बहुत अच्छे अंक पाये थे और जिसके पाठों का प्रदर्शन उसने विशेष शिक्षक और अपनी क्लास-टीचर की उपस्थिति में, काले तख़्ते पर किया था, वह कुछ समय पहले, माध्यमिक स्कूल के लिए तो बहुत ही आवश्यक और महत्वपूर्ण था; पर

यहां के लिए बिलकुल बेकार और अनावश्यक – यहां तो उसका पाला लटके हुए, काठ से चेहरों की अभेद दीवार से पड़ा था।

इस सब का उसके शिक्षाशास्त्र, उसके माध्यमिक विद्यालय और उसकी आठवीं कक्षा से दूर का भी संबंध न था। यहां तो उसे अपने आप ही कुछ विचार करना था। अकथनीय बेवक़ूफ़ीभरी ज़िद की दीवार भेदने का कोई उपाय खोजना था।

अवकाश के समय वह कुछ देर को अपने कमरे में चली गई – उसका सिर चक्कर खा रहा था और उसे आंखों के आगे तारे से नज़र आ रहे थे। दूसरी ओर बच्चों ने ऐसा हुड़दंग मचाया कि क्लास सिर पर उठा ली। फ़र्श चरमराने लगा। चीख़-पुकार और हंसी से दीवारें हिलने लगीं।

आशंकित सी वह क्लास में लौट आई।

उसने बड़े बच्चों के ग्रुप के एक लड़के को बुलाया। वह एक साल स्कूल में पढ़ चुका था। बोली :

"किताब उठाओ और पढ़ो।"

लड़के ने चेहरे की सारी नसें तान लीं, और बहुत ऊंची आवाज़ में पढ़ना शुरू किया :

"और... और फ-आ-फा-टक पर कु-उ-ता भौं-भौंक रहा था।"

"कुउता? कैसा कुउता? कुत्ता!"

लड़के ने अपने पिता के लंबे बूट पहन रखे थे। गालीना के शब्दों से उसकी भौंहें चढ़ गईं और उसे इस तरह घूरने लगा जैसे वह कोई अजूबा हो।

"क्यों, क्या बात है? कौन ठीक से बता सकता है?"

"मैं!" – झांईंदार चेहरेवाली छोटी लड़की ने चकित होकर भौंहें ऊपर उठाते हुए कहा।

"तो, बतलाओ।"

"बकरा।"

"कैसा बकरा? बकरे का यहां क्या काम है?"

इसी समय उसके और बच्चों के बीच की दीवार सहसा ही हट गई। बच्चे उछले, डेस्कों पर चढ़ गये, एक-दूसरे के कंधों पर सवार हो गये, किताबें और क़लमें इधर-उधर फेंकने लगे और ऊंची-नीची आवाज़ों में चीख़ने-चिल्लाने लगे :

"इनके यहां एक कुत्ता है। वह कभी किसी पर नहीं भूंकता। पर, जैसे ही बकरा देखता है, ज़ोर-ज़ोर से भूं-भूं करने लगता है।"

उसने मन ही मन बड़ी हैरानी से सोचा :

"इन बच्चों ने इतने ख़राब कपड़े क्यों पहने हुए हैं? रूसी या उक्रइनी पोशाकें तो बहुत अच्छी-अच्छी होती हैं,—यहां तो उक्रइनी बच्चे भी पढ़ते हैं। यह गांव ऐसा जन-बस्ती से कटा हुआ है, कि तीन साल में एक बार शहर आना-जाना हो जाये तो हो जाये, यहां के लोग हैं कि शहर के गंदे-भद्दे ब्लाउज़ ही झुलाते रहते हैं अपनी बच्चियों के शरीर पर। ये कपड़े आते कहां से हैं? ऐसा क्यों है यहां?"

गालीना को बच्चों को चुप करने में काफ़ी समय लगा। वासीली भी देखने अंदर चला आया कि क्या गोलमाल है। वह आ गया तो बच्चों को हंसने-हंसाने का एक साधन और मिल गया। और वे बेमतलब चिल्लाने लगे :

"काना आया, काना, उसने बच्चे को रुलाया! .."

खाने की छुट्टी हुई तो वासीली ने बदला लिया। उसने बच्चों के कान और बाल पकड़-पकड़कर खींचे। ठोकर तक मारी। पर, जाने क्यों किसी बच्चे ने किसी तरह की कोई शिकायत न की। परंतु गालीना को कहीं से यह मालूम हो गया। उसने वासीली की बुरी तरह ख़बर ली और धमकाया कि अगर उसने किसी बच्चे को कभी दुबारा हाथ भी लगाये, तो उसे नौकरी से हटा दिया जायेगा।

वासीली ने कोई उत्तर न दिया। उसके माथे पर बल पड़ गये, और गालीना की ओर चुपचाप देखता रहा—हो सकता है कि उसके माथे पर ये बल तरस के कारण पड़े हों, और हो सकता है कि दुश्मनी से।

जो भी हो, बच्चे ऐसी मोटी अक़्ल के और उत्पाती थे कि गालीना एक दिन के पाठ्यक्रम का दसवां भाग भी दिन भर में पूरा नहीं कर सकती थी। फलतः छुट्टी के बाद वह उन्हें रोक लेती, और उनके दिमाग़ों में कूट-कूटकर भरने लगती जब तक कि उसकी भी बुद्धि जवाब न दे जाती और बच्चों की भी। यहीं नहीं, वह सबसे ज़्यादा भोंदू बच्चों को खाने के बाद फिर स्कूल में बुलाती। नतीजा यह होता कि शाम होते-होते उसका दिमाग़ बिलकुल जवाब दे जाता। वह इतनी थक जाती कि चारपाई तक पहुंचना उसके लिए कठिन हो जाता।

उसे न लिखने-पढ़ने का समय मिलता और न सोचने-समझने का।

अंधेरा घिरता, और अंधेरे के साथ एक सन्नाटा छाता, गांवों का सन्नाटा—वीरानगी और हसरतों से भरा।

गालीना को तकिये पर सिर रखते ही गहरी नींद आ जाती, कोई सपना भी नहीं आता। पर, आधी रात के लगभग एक झटका सा लगता, और उसकी आंख खुल जाती। इसके बाद वह अंधकार में आंखें गड़ाये वीरान सन्नाटे में आहट लेती रहती। "बच्चे जीवन के फूल हैं... भला किसने कहा है यह? .. बकवास है बिलकुल! लोग छलते हैं अपने-आप को।"

उसने गहरी सांस ली। चीजें फिर गड़बड़ा रही हैं, हर चीज़ उलट-पलट गई है, जैसी आशा थी वैसी नहीं। शहरों के अख़बारों में, किताबों में बार-बार स्कूलों की कमी का गाना गाया जा रहा है। हर चीज़ आसान और ठीक-ठाक मालूम होती है—हर साल कितने ही बच्चों को जगह न होने के कारण दाख़िले नहीं मिलते, केवल, बस यही।

पर, यहां क्या है? एक गर्भवती औरत अपने बच्चे के साथ आई है, जीने का उसका अपना तरीक़ा है, उसका अपना चेहरा है, उसके अपने दुःख और मुसीबतें हैं, पर, यह जो कुछ है, सिर्फ़ उसका है, केवल उसका, दूसरों की बात दूसरी है, साफ़ है कि स्कूलों की कमी से उसका कोई संबंध नहीं है। उसी औरत ने आज कहा था:

"हमारा ही ख़ून चूस-चूसकर मुटाती हो!"

कौन मुटाती है? ओह, तो उसका मतलब मुझसे ही था! .. हे भगवान! ..

गालीना ने करवट बदली और सौ तक गिनती गिन डाली।

गांव के पादरी की भी आंखें काली हैं। पहले वह धर्म-शिक्षा के लिए ठीक वक़्त पर स्कूल आते जाते थे। कभी-कभी वह शाम को भी आ जाते थे। चाय पीते-पीते और बातचीत करते-करते ही समय इस तरह बीत जाता है कि कुछ पता ही नहीं चलता।

उन्होंने यह बाना आख़िर क्यों अपनाया? वह तो उन पर ज़रा भी नहीं फबता। वह तो ख़ासे हट्टे-कट्टे और चौड़े कंधोंवाले हैं... फिर कभी-कभी धर्म-शिक्षा के लिए उनके आने में चूक होने लगी—वह गिरजे के चौकीदार को भेजकर गालीना से कहलवा देते कि धर्म-शिक्षा का घंटा वह ले ले—उन्हें या तो गिरजे में प्रार्थना करवानी होती या किसी और गांव जाना पड़ जाता।

विश्वविद्यालय में नाम न लिखाकर पादरी ने बड़ी भारी भूल की है... अब उन्होंने गालीना के यहां आना-जाना भी बंद कर दिया है, पर वैसे अब भी जब भेंट हो जाती है तो वह उससे बड़े स्नेह से मिलते हैं, और उससे हाथ मिलाते हैं... अगर ध्यान से देखे बादलों के टूटे-फूटे टुकड़े खिड़की के चौखटे के सामने से गुज़रते हुए नजर आते हैं—धीरे-धीरे खिसकते-से...

फिर बरसात आ गई। पानी की बूंदें छत पर पट-पट करतीं। हवा इन बूंदों को अपने साथ उड़ा ले जाती और खिड़की के शीशों पर चुन देती। खिड़की के सामने के ख़ाली-सूने बर्च के पेड़ झूमते। उनके सिर हवा में लहराते। मूसलाधार बारिश में न सड़क, न घर, न कुआं, न सफ़ेद हंस—कुछ भी नहीं दिखते।

शहर में तो बरसात की तरफ़ कभी ध्यान नहीं जाता। ऊंचे-ऊंचे मकान, तेज़ चलती ट्रामें, ट्रामों की घंटियां, ऊपर से बिजली के तारों से निकलती नीली चिनगारियां, घोड़ों के खुरों की खड़खड़, चलते-फिरते लोगों की भीड़, दूकानों की खिड़कियों से आती, संकरी पटरियों तक सीमित न रहनेवाली बिखरी रोशनी—ये सब बरसात को जैसे छिपा लेते हैं। लेकिन, गांव-गंवई में तो बरसात का ही राज होता है। वह हर चीज़ को अपने-आप में समा लेती है, छिपा लेती है। और तो और, पानी से धुले बर्च के पेड़ तक अपने सिर झुकाकर परास्त हो जाते हैं। पानी बरसता रहता है, बरसता रहता है—बूंदें थकने को ही नहीं आतीं। छतों पर, खिड़कियों पर पटपट करती रहती हैं। दीवारों से टकराती रहती हैं। अस्पष्ट और अनिश्चित हो उठती हैं। इस बरसात का कोई चेहरा नहीं है। सुनसान खेतों और ठंडे, ख़ाली जंगलों में भी वह ऐसा ही शोर मचाती है। पेड़ों के ठूंठों के बीच में जैसे-तैसे बढ़कर भी जीवित रहती टेढ़ी-सीधी पत्तियों तक की जान नहीं बचती। वे टूटकर ज़मीन पर आ गिरती हैं।

बच्चे स्कूल आते तो ऊपर से नीचे तक कीचड़ से सने और जब जाते तो गंदगी के मारे फ़र्श भी नहीं दिखता था।

कभी-कभी हवा बादलों को उड़ा ले जाती, और बरसात का धुंधलापन कुछ देर को धुल उठता। ऐसे में हर चीज़ काली लगने लगती—

कीचड़ भरी सूनी सड़क, पानी से भीगे मकान, कुएं पर बैठा काला कौआ, एक ही दिशा में उड़ते बादलों के टुकड़े—सब कुछ काला दिखता।

कभी-कभी कोई किसान अपना लंगड़ा घोड़ा लिए सड़क पर नज़र आ जाता था। उसकी टोपी और दाढ़ी गीली होतीं, और कोट की पेटी कमर से ख़ूब कसी। घोड़ा दलदल के बीच से अटक-अटककर आगे बढ़ता और बाड़े से अधिक से अधिक सटकर चलने की कोशिश करता। पर, इस घोड़े और इसके मालिक के निकल जाने के बाद फिर सन्नाटा हो जाता। बाक़ी रह जाता सड़क पर कीचड़ का सागर और इस सागर के साथ एक ओर को झुके से मकान, और कुएं का काला पड़ा शहतीर। और फिर बारिश का अंधेरा सारे दृश्य पर परदा डाल देता।

इन दिनों स्कूल कम समय चलता। लड़के सारे समय शोरगुल कर आसमान सिर पर उठाये रहते और अपने-अपने घरों को जाते तो फ़र्श पर कीचड़ की मोटी परत छोड़ जाते। पर, इनसे भी न तो मन की विफलता की उदासी कटती, और न अंतर का अकेलापन, क्योंकि उनके लिए हर चीज़ एक सी रहती—आज, कल, परसों, हफ़्तों और महीनों—इसमें कोई अंतर नहीं पड़ता।

ऐसी शामों को कुछ पढ़ना बहुत भला लगता था। बस, गालीना बिस्तर में घुस जाती, लैंप पास खींच लेती, और दूसरी-दूसरी घटनाओं में डूब जाती। उन दूसरी परिस्थितियों में जो रूप-आकार उभरते वे जाने क्यों बड़े प्रभुतापूर्ण और प्राणवान लगते थे।

उसके सखी-सखा शहर से पुस्तकें, पत्र-पत्रिकाएं और अख़बार उसके नाम भेजते—कभी-कभी तो बंडल के बंडल।

पर होते-होते ऐसा समय आ गया, जब किताबें यूं ही अछूती पड़ी रहने लगीं। वे उसे नीरस और निष्प्राण लगतीं। शाम के सूनेपन में वह एकदम अकेली रह जाती—ऐसी घड़ियों में उसे बड़ा डर लगने लगता था।

वासीली छोटा सा, जगह-जगह जोड़ लगा और समय से हरा पड़ा समोवार ले आया। वह रहरहकर भाप के बादल उगल रहा था। बूढ़े ने समोवार मेज़ पर रखा, कोयलों पर फूंक मारी, उबलकर ढक्कन तक आ गये पानी को पोंछा और हाथ बांधकर बड़ी शान से ड्योढ़ी में खड़ा हो गया।

"बारिश तो कई दिन होती रहेगी।"

गालीना को ख़ुशी हुई कि बूढ़ा समोवार रखकर चला नहीं गया।

"अपना मग ले आओ, थोड़ी चाय तुम्हें भी दे दूं, वासीली।"

"बहुत-बहुत धन्यवाद। मैं बाद में पी लूंगा,"—उसने उदास मन से कहा, पर साथ ही वह मग भी ले आया। बोला :

"क्या है यहां गांव में, आदमी कटा रहता है सारी दुनिया से, न कहीं आ सकता है, न जा सकता है, किसान यहां के पैसेवाले हैं, पर गरदन तक गंदगी में डूबे हुए हैं।"

"इसे भी अकेलापन सताता है," उसके बड़े, रोग़न उखड़े मग में चाय डालते हुए गालीना ने सोचा।

"लो, यह लो, वासीली।"

बूढ़े ने मग उठाया और गालीना की ओर देखा। उसकी कानी आँख में शान्त गरिमा भरी थी और दूसरी आंख में इज़्ज़त।

वह दरवाज़े के पास की बेंच पर बैठ गया और तश्तरी में चाय उंडेली, फिर चीनी की एक डली जीभ और गाल के बीच में दबाकर चूसी और चाय की चुस्की लेने लगा।

उसकी विकृत परछाईं दीवार पर एक भद्दा धब्बा बनकर रह गई।

पहले-पहल वासीली गालीना को अच्छा नहीं लगा था। बच्चों के बाल और कान खींचने की बात से तो वह उससे बहुत ही नाराज़ हो गई थी। वैसे बच्चों की ख़बर तो वह अब भी लेता था, पर चुपचाप, चोरी-चोरी—पर दुर्भावना से नहीं, बल्कि सुव्यवस्था बनाये रखने के लिए। जाने क्यों, बच्चों ने शिकायत नहीं की।

"पहले यहां एक युवा मास्टरनी थी,—बड़ी साफ़-सुथरी, दुबली-पतली। पर रोते-रोते ही मर गई बेचारी।"

"मर गई?"

"यहां पहले आटे की मिल थी और उसमें एक इंजीनियर था, बड़ा तेज़, हंसमुख, देखने में बड़ा ख़ूबसूरत। मिल का काम तो धूल-गर्द का होता ही है, पर वह अपना ध्यान रखता था, हमेशा साफ़ रहता था, रूमाल से जूते पोंछता रहता था। ख़ैर, तो वह मास्टरनी के पास आने-जाने लगा। मास्टरनी दुखभोग-सप्ताह की मोमबत्ती सी रहती, जो उसके आते ही जगमगा उठती। सब लोगों को वह अच्छी लगती थी,

हर कोई उसे बहुत चाहता था। आप तो जानती हैं कि यहां के लोग कैसे हैं, पर मास्टरनी के ख़िलाफ़ किसी ने मुंह तक नहीं खोला। फिर इंजीनियर ने आना-जाना बंद कर दिया। आख़िर में वह आया तो मास्टरनी से विदा लेने आया। बोला – 'अलविदा, आन्ना अलेक्सांद्रोव्ना' – और, वह बेचारी लड़की यहीं, इसी दरवाज़े से टिकी, खड़ी की खड़ी रह गई।" – वासीली ने तश्तरी नीचे रखी और कानी आंख बंद कर दरवाज़े के सहारे बैठ गया। – "वह यहां खड़ी रही, और ऐसी सफ़ेद-फक पड़ गई, जैसे खड़िया। इसके बाद वह बच्चों के पास लौट गई – उसे अपना काम जो करना था। लेकिन, बीच-बीच में वह अपना मुंह मोड़कर आंसू पोंछ लेती। रातों को उसकी आंख नहीं लगती, और उसकी खिड़की में सुबह तक रोशनी जलती रहती। एक बार मुझे लगा कि जलते लैम्प से कमरे में आग तो नहीं लग गई है। मैंने खिड़की में से झांककर देखा। परदा एक तरफ़ ज़रा खिसका हुआ था – मैंने देखा, वह ज़मीन पर घुटनों के बल बैठी थी – उसका सिर बिस्तर पर टिका हुआ था और सारा बदन ऐंठा जा रहा था... बस, पतझड़ आते-आते हमें उसे दफ़न करना पड़ा।"

वासीली की परछाईं अब भी ज्यों की त्यों थी – गेंद की तरह गुड़ी-मुड़ी – उसके हाव-भाव के जवाब में बेमन सी कांप जाती थी। काली खिड़की से बस बारिश का शोर ही आ रहा था।

"इसके बाद यहां एक मास्टर आया। उसके बीवी-बच्चे थे। पर उससे पहले यहां एक मास्टरनी थी, अधेड़ सी, उसे जई का दलिया बहुत अच्छा लगता था। वह अकसर अंगीठी के सामने खड़ी होकर दलिया चला चलाती रहती थी – पता नहीं उसे अंदर कैसी बीमारी थी। वह रही यहां कोई छः महीने। इसके बाद उसका तबादला कर दिया गया। फिर आया वही छोकरा – बड़ा ख़ुश मिज़ाज। उसने शादी की। घरवाली भी वैसी ही तबीयतवाली थी – बड़ी रसीली – गाल ऐसे गुलाबी थे कि बस। और फिर आने लगे बच्चे पर बच्चे – हर साल एक। कमरे में जगह न रह गई और मास्टर की घरवाली की हड्डियां निकल आयीं। बड़ी बदसूरत लगने लगी।"

"यह सब कुछ इसी कमरे में हुआ?"

"हां, इसी कमरे में। फिर अधिकारी उसे परेशान करने लगे कि

यहां से निकलो और कहीं और मकान लेकर अपने बीवी-बच्चों को रखो। मास्टर बड़ा गिड़गिड़ाया। उसने घुटनों पर गिरकर उनसे प्रार्थना की—भला दो घर वह एक साथ कैसे चलाता? अगर कोई बच्चा रोता, तो मां-बाप उसके मुंह पर तकिया रख देते। उसकी आवाज़ घुटकर रह जाती और बच्चा इस तरह चुप हो जाता कि डर लगता था। मैंने सब कुछ देखा है—छब्बीस साल से मैं यहां हूं—फ़ौज की नौकरी छोड़ने के बाद से बराबर यहीं तो रहा हूं।"

इस बूढ़े की भी अपनी कहानी थी—अपनी ज़िंदगी—हर किसी की सी नहीं, बल्कि अनूठी, अलग, उसकी अपनी परछाईं जैसी कुबड़ी नहीं, बल्कि गेंद सी गुड़ी-मुड़ी, उतनी ही उदास, वैसी ही सिये होठोंवाली।

उसके बच्चे हुए तो थे, पर वे सब जाते रहे। उसकी पत्नी भी मर चुकी थी। सारे सगे-संबंधी और निकट के जान-पहचानवाले या तो मर गये थे, या कहीं चले गये थे—कोई साइबेरिया, कोई तूला तो कोई मास्को—गांव में उसका अपना कोई नहीं रह गया था। बच गया था केवल वह—एक अकेला पुराने पेड़ के ठूंठ सा। न तो उसका कहीं कोई ऐसा था जिसके पास वह आ-जा सके, और न ही कहीं कोई ऐसी जगह थी जहां वह सिर रख सके। किसी प्रियजन का हाथ न था जो समय आने पर उसकी आंखें बंद कर दे। उसने छब्बीस वर्ष इसी स्कूल में गुज़ारे हैं। यह स्कूल ही उसका घरबार, परिवार, मित्र-सखा सब कुछ था। यही कारण था कि चाहे जितने परिवर्तन हो जायें, चाहे जितने और जिस तरह के लोग आयें, उसके लिए सब कुछ बराबर था। आनेवाला जवान हो या बूढ़ा, मिज़ाज का सख़्त हो या नरम, लड़की विवाहित हो या अविवाहित, कोई अकेले हो या बच्चोंवाला, वह सब के साथ एक सा व्यवहार करता था। वह सब का सामान गाड़ी से उतारता, चुपचाप स्कूल के अंदर ले जाता और उनके लिए इस तरह चुपचाप समोवार ले आता, जैसे कि वह उन्हें जाने कब से जानता है और उनसे बात करने के लिए अब कोई विषय ही नहीं है।

सर्दी बढ़ी। हर चीज़ सख़्त और मज़बूत हो गई। मिट्टी कड़ी हो गई और अब वसंत के दिनों तक वैसी ही पड़ी रहेगी, बरफ़ गिरने तक तो वह ढीली होगी नहीं। मकानों के आसपास का सारा कुछ और ठोस

लगने लगा। सुबह के समय पाला पड़ता तो मकानों की छतें भूरी लगने लगतीं।

शीत के कारण सूने-खाली और ठंडे पेड़ भी सुबह के समय भूरे लगते। कुएं के चारों ओर का लकड़ी का कटहरा और बाड़ों के सिरे सफ़ेद पड़ जाते। पोखरियों पर हंस इधर-उधर आते-जाते तो उनके लाल पैरों के नीचे बरफ़ की हल्की परत चटख जाती। कुत्ते ऐसे भूंकते कि उनकी आवाज़ दूर से भी सुनी जा सकती थी, और ऐसे गूंजती कि लगता शीशे सी नाज़ुक हवा के यह टुकड़े-टुकड़े न कर दे।

सूरज मकानों के बहुत ऊपर तक तो नहीं चढ़ता था, पर साफ़ और उजला था। सूरज को ढकनेवाला कोई बादल नहीं था। गली के उस पार के मकानों की क़तार पर धूप पड़ती और छतों, पेड़ों और कुएं के एक ओर का पाला पिघलता, गली का दूर का सिरा कुछ-कुछ नीला सा, नम मालूम पड़ता। ऐसा लगता जैसे कि वसंत के साथ नीली धुंध आ गई हो—पर, यहां वसंत का सा सुख या आनंद नहीं था। यहां तो सदा वातावरण में हल्की-हल्की उदासी-अलगाव और अकेलापन ही था।

"हे भगवान, यह क्या है कि मैं... भला, शहर में भी तो यही सब कुछ होता था, पर वहां मेरा उस पर कभी ध्यान भी नहीं जाता था..."

गालीना घुटन से भरे, बदबूदार क्लास से बाहर निकलकर, तेज़ क़दम बढ़ाती सड़क पर आई और फिर वहां से खेतों की ओर बढ़ गई। पेड़, पीली घासवाले खेत, अब तक बच रहे निश्चल लाल पत्तियोंवाले तरुण मेपल और पेड़ों के ठूंठ—सारा कुछ बहुत ही स्नेह से विदाई लेता सा लगा। हर चीज़ अपने आप में अनूठी और अलबेली मालूम हुई, जैसे कि पतझड़ का मौसम सबमें समझौता करा रहा हो। सर्दी आने से पहले की धूप में ठंडक थी, पर शरीर को सुहाती हुई।

दूर का जंगल उसी भूरी धुंध में लिपटा हुआ था, जिसकी सांस से विदाई की आवाज़ आ रही थी। लंबी-गहरी सांसें लेते हुए चलते-चलते उसे ऐसे लगा, जैसे कोई पूछ रहा है:

"क्या चाहती हो तुम?"

"मैं जीना चाहती हूं।"

"कैसे?"

"पता नहीं, पर मैं जीना चाहती हूं, और ऐसे जीना चाहती हूं कि मेरा अंतर कह उठे–'हां!..' यानी... इस तरह... यानी आज के इस दिन की तरह–आज कितना अच्छा है! ऐसा सूरज और ऐसी धूप मैंने पहले कभी नहीं देखी... शायद ऐसा सूरज पहले कभी उगा ही नहीं... शायद ऐसा पहले कभी हुआ ही नहीं... पर, मैं अकेली क्यों हूं?.. बच्चे हैं, शोरगुल मचाते हैं, तरह-तरह के खिलवाड़ करते हैं, इतने सारे किसान हैं यहां, पादरी हैं, उनकी पत्नी है, फिर भी मैं अकेली हूं..."

गिरजाघर के पीछेवाले ऊंचे किनारे से सारा दृश्य बहुत ही मनोहर लग रहा था–यहां से वहां तक फैला मैदान, मैदान में हर ओर पतझड़ से कजराये फलों के बागों वाले गांव–पुज़ोवका, गोरेइनोवो आदि-आदि; जहां-तहां झलकते ज़मींदारों के ईंटों के लाल मकान। जाने क्यों, ऐसा लग रहा था कि उस ओर रहनेवालों का जीवन बहुत ही सुखी है।

'कज़ान की देवी' उत्सव के पहले गांव में अजीब हलचल थी। गिरजे की झाड़-पोंछ की गई थी। बरसाती के सामने की जगह साफ़ की गई थी और वहां पीली बालू छिड़की गई थी। गांव के मुखिया ने कुछ औरतों को स्कूल में भेजा। इन्होंने सारी इमारत धोई-पोंछी और चमकाई। पादरी का घर भी साफ़ किया गया और कितने ही घरों के सामने बालू डाली गई। स्त्रियां सुबह से रात तक रसोई में लगी रहीं और उन्होंने तरह-तरह के पकवान बनाये। पुरुषों ने हम्माम में अपने बदनों को रगड़-रगड़कर साफ़ किया, और अपने बालों में इतना तेल उंडेला कि शाम को, जब वे गिरजा गये, तो प्रार्थना के घुटनभरे वातावरण में उनके सिर गीले लग रहे थे।

"यह सब किसलिए हो रहा है?"–गालीना ने पूछा। "गिरजे के संत का त्योहार है क्या?"

"नहीं, हमारे संत तो पीटर और पॉल हैं।"

"बिलकुल ईस्टर जैसा लग रहा है।"

"नहीं, आज अपने अन्नदाता का स्वागत करेंगे।"

"कौनसे अन्नदाता?"

"वह इतने धनी हैं कि आप सोच नहीं सकतीं। अगर वह चाहें, तो सारा सूबा ख़रीद लें।"

पर, शाम की प्रार्थना के समय अन्नदाता नहीं आये। अलबत्ता पादरी दिमीत्री गिरजे में नये सफ़ेद चोगे में आये, और उनकी पत्नी फूली हुई आस्तीनों का कासनी रंग का नया रेशमी फ़्रॉक पहने थी। और स्त्रियों के ब्लाउज़ नये थे और बच्चों के बाल क़ायदे से कढ़े-संवरे थे। सारा गिरजा पादरी की सुरीली मधुर आवाज़ से गूंज उठा। अन्नदाता नहीं आये।

अन्नदाता दूसरे दिन प्रार्थना से पहले आये—छोटे, लाल रंग के तीन घोड़ों की खुली गाड़ी में सवार—बक्से पर उनका अंग-रक्षक पीली डोरी में रिवाल्वर लिए बैठा था। गाड़ी पादरी के घर के सामने रुकी। पादरी की पत्नी ने बाहर आकर अन्नदाता का स्वागत किया और वे दोनों एक साथ गिरजे में गये।

उनके अंदर जाते ही भीड़ ने उनके लिए रास्ता कर दिया, और उनके पास से गुज़रने पर झुककर उनका अभिवादन किया। पादरी ने नये आगन्तुक के प्रति विशेष स्नेह दिखलाया। उस समय वे जन-समूह के सामने धूप-लोबानदान हिला रहे थे। लोबान से गंध का बड़ा बादल सा उमड़ रहा था। यह बादल बहुत ही धीरे-धीरे हवा में मिटता जा रहा था। खिड़की से छनकर आती हुई तिरछी किरणें इस बादल पर पड़ती थीं तो नीली धारियां सी पड़ जाती थीं।

"प्रभु, हम सब पर दया करो!"—बच्चे गाने लगे और दिनों से आज कुछ अधिक सुर में। पादरी ने स्कूल के बच्चों की एक संगीत-मंडली बनाई हुई थी। इन सबसे गालीना को अपने बचपन के दिनों की याद हो आई—नीले धुएं का बादल, अपनी मृत मां, अपना सफ़ेद, छोटा फ़्रॉक और सफ़ेद स्लीपर आदि उसके दिमाग़ में ताज़े हो उठे। यही तो वह उन दिनों पहनती थी।

"तो, ये हैं अन्नदाता! .. मैंने सोचा कि..."

अन्नदाता गानेवालों के दाईं ओर खड़े हो गये, और बेसुरे, पर विश्वासपूर्ण स्वरों से दूसरों का साथ देने लगे। उनकी गरदन के बाल पीछे से साफ़ थे, पर उस पर चर्बी की परतें थीं। बाल ऊंचे, गोल, पुराने रूसी ढंग से कटे हुए थे। देखने में साफ़ लगता था कि वह

ठेके का काम करते हैं, और ठेके का काम रसद पर निर्भर करता है... उन्होंने झटके से अपने सीने पर क्रॉस बनाया, लंबी सांस ली और झुकने का यत्न किया। उनकी चौड़ी पीठ पर बढ़िया कपड़े का कोट चमक उठा।

गालीना ने भी उसी क्षण अपने सीने पर सलीब बनाया, क्योंकि प्रार्थना के अनुसार इस समय ऐसा करना ज़रुरी था। वह अगली क़तार में खड़ी अन्नदाता को देखने की पूरी कोशिश कर रही थी, पर उसे उनकी झलक भी नहीं मिल पा रही थी। स्तुति समाप्त होने पर अन्नदाता ज़मीन तक झुके, और फिर हाथ के बल उठते हुए मुड़कर जन-समूह की ओर झुके। केवल इस समय लोग उन्हें भर आंख देख सके। इसके बाद फिर उन्होंने पेट पर हाथ बांधे और सिर पीछे की ओर ऐसे झटका कि मांस की परतें उनकी क़मीज़ के कालर पर लटक आईं। उन्होंने फिर लंबी सांस ली और कुछ फुसफुसा कर कहा। फुसफुसाहट सारे गिरजे में इस तरह गूंजी कि पादरी दिमीत्री के स्वर उसमें डूब गये।

गालीना को बस याद रहा—अन्नदाता का किसानी चेहरा, चेचक के दाग़ों से भरा, भूरे रंग की किसानी दाढ़ी, जिसने ऊपर से कोट को ढक रखा था, बीच की मांग के दोनों ओर कढ़े हुए चिपके हुए से घने बाल—बिलकुल किसानों की तरह—और आंखें... आंखें वह देख नहीं सकी थी।

औरतें, मर्द, बूढ़े, जवान, बच्चे उत्सुकता से बरसाती में जमा हो गये, और धक्कम-धक्का करने लगे। जल्दी ही पादरी की पत्नी के साथ अन्नदाता पधारे।

"हमारे इस गांव में आपका स्वागत!"—भीड़ ने एक स्वर से घोष किया।

झबरे, सफ़ेद बालोंवाला बूढ़ा एक क़दम आगे आया, नव-आगन्तुक के सामने झुका और लकड़ी की तश्तरी पर रखी नमक-रोटी उसने अन्नदाता की ओर बढ़ा दी:

"निकीफ़ोर लुकीच, यह, यहां हम सब रहनेवालों की ओर से आपको अर्पित है—परम-पिता आप पर सदा कृपालु हों, अन्नदाता!"

"अन्नदाता!.."

"आप युग-युग जियें, फलें-फूलें!.. हम आपके लिए संतों से प्रार्थना करते हैं।"

"धन्यवाद! आप सब को धन्यवाद!"—अन्नदाता ने नमक-रोटी

स्वीकार की और पास खड़ी औरत को थमा दी। औरत ने उसे बड़ी श्रद्धा और सावधानी से संभाल लिया।

"गालीना," पादरी की पत्नी बोलीं, "यह निकीफ़ोर लुकीच हैं—हमारे स्कूल के ट्रस्टी... और ये हैं हमारे गांव की नई मास्टरनी... धन्य हैं निकीफ़ोर लुकीच कि हमारे गांव का काम चला जा रहा है। गिरजा इन्होंने बनवाया, स्कूल पर नई छत इन्होंने डलवाई, ज़मीन इन्होंने हमें लगान पर दी..."

निकीफ़ोर लुकीच ने गालीना का हाथ अपने हाथ में लिया। गालीना ने देखा तो उनकी छोटी आंखें बड़ी धूर्तता से भरी लगीं। गालीना ने हल्के से अपना हाथ छुड़ाने की कोशिश की, पर वे हाथ उसी प्रकार पकड़े रहे।

"अच्छा अब रहने भी दीजिये, ऐसा न हो कि मैं तारीफ़ों से दब जाऊं!"

भीड़ से घिरे वे आगे बढ़े।

पादरी के यहां चाय की व्यवस्था थी। झबरे बालोंवाले बूढ़े और दूकानदार को भी बुलाया गया था। लंबी नाक और बिना दाढ़ी-मुंह के चेहरेवाला दूकानदार भी वहां बैठा था। उसका चेहरा मटके जैसा था। उसकी भौंहों के बाल सदा नुकीले से रहते थे। स्कूल के अलावा गांव भर में एक अकेले उसके मकान पर टीन की चादरों की छत थी। गिरजे का मुखिया गंजा, पीला और लकवे का मारा था। उसके मुंह में चीनी का एक टुकड़ा था, जिसे वह रह रहकर जीभ से गाल की ओर दबा लेता था।

"पिछले सात महीनों से बिच्छू-बूटी के काढ़े का पानी पी रहा हूं। अब ज़रा अच्छा हूं। पहले तो सांस भी मुश्किल से ही ले पाता था। जब कभी घोड़े लेकर बाहर जाता, तो दम घुटने लगता था।"

"ये तो लीजिये, निकीफ़ोर लुकीच," बहुत अच्छे सेंके हुए, फूले-फूले रोलों की तश्तरी आगे बढ़ाती हुई पादरी की पत्नी बोलीं।

उन्होंने लोगों को घर की बनी चेरी की बढ़िया शराब पिलाई। शराब तेल की तरह गाढ़ी थी। पीते ही मंडली में जान आ गई।

"हम तो आपकी राह देखते रहे हैं—ईस्टर की तरह आपकी राह देखते रहे है," अन्नदाता की ओर देखते हुए झबरे बालोंवाला बूढ़ा

बोला – उसकी आंखें शराब से नम हो उठी थीं, – "देखिये, जब तक यह गिरजा खड़ा है, और जब तक हममें से एक की भी सांस में सांस बाक़ी है, तब तक हम बराबर, प्रभु से, आपके लिए प्रार्थना करते रहेंगे।"

"निकीफ़ोर लुकीच," अपना हाथ उठाते हुए और अपने चोग़े की चौड़ी आस्तीन को ठीक करते हुए पादरी दिमीत्री बोले, "हमारे प्रभु यीशु ने कहा है – 'सुई के छेद से हाथी निकलना सरल है, पर परमपिता के राज्य में धनी आदमी का प्रवेश कठिन है।' हमारे अलौकिक शिक्षक के उन शब्दों में किसी तरह का तिरस्कार या भर्त्सना नहीं है, बल्कि आशय केवल यह है कि जिसे जितना दिया गया है, उससे वहां उतना ही मांगा जायेगा और उसे वहां उतना ही देना पड़ेगा।"

"सचमुच ऐसे लोगों से बहुत मांगा जाता है," आंखों में गिरती अपनी पके बालों की अयाल हिलाते हुए झबरे बालोंवाला बूढ़ा बीच में आ टपका। बोला, "मैंने एक बधिया ख़रीदा है। ख़ूब मज़बूत है, ख़ूब काम करता है। कितना सामान लादता हूं मैं उस पर..."

पादरी की पत्नी ने बेचैनी से सिर घुमा लिया:

"बच्चो, आया के पास जाओ। जाओ, वह तुम्हें कुछ चीज़ देगी।"

इसके बाद बूढ़े की ओर मुड़ीं:

"पादरी साहब कुछ कह रहे हैं – उन्हें अपनी बात तो पूरी कर लेने दो।"

पादरी साहब कहते रहे:

"...जिन्हें बहुत दिया गया है, उन्हें बहुत देना पड़ेगा – यही बात लोग भूल जाते हैं – वे भूल जाते हैं कि..."

"हां-हां, यह तो ठीक है," गंजे मुखिया ने बात काटी, "मैं पिछले सात महीनों से बिच्छू-बूटी का पानी पी रहा हूं, और मैंने अपनी बेटी से भी कह दिया है कि..."

"चुप रहो, देम्यानिच!" – पादरी की पत्नी ने आंखों से इशारा करते हुए कहा।

"...और, धन्य हैं वे जो यह बात नहीं भूलते, जो प्रभु के उपदेश याद रखते हैं, जिनकी उदारता कभी शिथिल नहीं होती है। प्रभु

के अनुग्रह से निकीफ़ोर लुकीच का कामकाज ढंग से चलता है, तो वे भी यह कभी नहीं भूलते कि सारा कुछ उस ऊपरवाले का ही दिया हुआ है।

"गोबर के ढेर से बाहर जब उस आदमी का सिर दीख रहा था, उस समय तो पादरी साहब बिलकुल दूसरे ही आदमी लग रहे थे," पादरी दिमीत्री पर आंखें जमाते हुए गालीना ने सोचा।

"...और, अन्नदाता की उदारता असीम है! गिरजा उनके ख़र्चे से बना, स्कूल पर छत उन्होंने डलवाई..."

"पुरानी छत में तो छेद ही छेद थे," झबरे बालोंवाला बूढ़ा बोला।

"जब बच्चे स्कूल में पढ़ने बैठते थे," मुखिया ने बूढ़े की हां में हां मिलाते हुए कहा, "तो छत के छेदों में से सूरज की धूप आती थी..."

"...लेकिन निकीफ़ोर लुकीच ने मेहनती किसानों के साथ सबसे बड़ी भलाई यह की है कि उन्होंने हमें ज़मीन दी है..."

"परमात्मा उन्हें मुंहमांगी मुराद दे, उन्होंने धरती का सदुपयोग किया है।"

"ज़मीन के कारण हम परमपिता से जीवन भर आपके लिए प्रार्थना करेंगे।"

अन्नदाता ने अपने कोट का कॉलर खोला और किसानों की सी तेज़ आवाज़ में कहना शुरू किया। पता नहीं क्यों, वह टकटकी लगाकर गालीना की ओर देखते रहे:

"हर कोपेक मैंने इन हाथों से कमाया है... मेरी कमर झुक गई है, रातों को कम सोया हूं।"

"हमें पता है।"

"ख़ाली हाथों से कोपेक नहीं मिलता।"

"कोपेक चोर होता है, चोर–रातों की नींद चुरा लेता है," सहसा ही पतली, ज़नानी आवाज़ में दूकानदार बोला। उसके होंठों पर मुस्कान इस तरह दौड़ गई कि आंखों से ख़ुशी के साथ-साथ शरारत टपकने लगी और मटके जैसा उसका चेहरा बदल गया। पर, उसने अपनी बात ख़त्म की, तो उसका मुंह फिर लंबा और पतला हो उठा, जैसे कि वह भेड़िया हो और अपने पंजे दबाये जाल में फंसा पड़ा हो। भौंहों के नोकदार बाल फिर खड़े हो गये।

"जी हां, यही बात है! कोनेक-कोपेक मैंने पसीना बहाकर कमाया है। इसका मुझे कोई रंज नहीं है! अगर मैं ज़मीन सस्ते लगान पर देता हूं तो अपने गांववालों की भलाई के लिए। समझो मुफ़्त बराबर देता हूं – छः हज़ार सालाना का घाटा होता है, हो सकता है, आठ हज़ार का होता हो। और आठ हज़ार – यह कोई मामूली रक़म नहीं है! .. पर मुझे इसका कोई अफ़सोस नहीं है।"

"हम आपकी बात पर यक़ीन करते हैं... एक आध तो चखिये," पनीर के केक अन्नदाता के सामने करते हुए पादरी की पत्नी ने कहा, "और, थोड़ी शराब और लीजिये।"

"गवर्नर साहब सदा ही मेरा हाथ मिलाकर स्वागत करते हैं। जब मैं बड़े गिरजे जाता हूं और बड़े पादरी को इसके बारे में मालूम हो, तो वह एकदम प्रसाद की रोटी भेजते हैं। मेरे पहुंचते ही कोई सन्यासी चांदी की ट्रे में रोटी सजाये और पादरी के आशीर्वाद लेकर मेरे पास आ पहुंचता है। स्वयं सम्राट ने मेरी दानशीलता पर मुझे चांदी का पदक दिया है।"

अन्नदाता ने कोट के पल्ले उलटे, जेबों में हाथ डाला और सामने निगाहें गड़ा दीं। उनकी आंखें जैसे मुस्करा रही थीं, पर उनमें बड़ी धूर्तता भरी थी। उन्होंने हाथ जेब से बाहर निकाला तो मुट्ठी में थे काग़ज़ के टुकड़े, रसीदें, पत्रों और चीज़ों की पहुंच के परचे, पुराने बटन और रिबन में लटका एक चांदी का पदक। पदक हर एक ने बारी-बारी से लिया और देखा।

"मेरे दामाद के पास भी सम्राट से मिला रजत-पदक है। किसी को डूबने से बचाने के सिलसिले में मिला था। वह अब मास्को में रहते हैं, और दस्तकारी का काम करते हैं। पदक में ५६ फ़ीसदी सोना है," दूकानदार ने ज़नानी आवाज़ में कहा।

पादरी की पत्नी खांसीं, और उन्होंने अपने अंगूठे और तर्जनी से होंठों के किनारे पोंछे।

"किसान औरतों की तरह इन्हें भी यह सब करने की आदत हो गई है," गालीना ने सोचा।

"साग-तरकारी के बाग़ के बिना पादरी का रहन-सहन बड़ा मुश्किल हो जाता है," पादरी की पत्नी बोलीं, "हमें हर चीज़ ख़रीदनी पड़ती

है, और आप जानते हैं कि ये गांव के लोग कैसे हैं: ठगे बिना तो कोई चीज़ ही नहीं बेचते।"

"किसान बड़े लालची होते हैं," झबरे बालोंवाले बूढ़े ने कहा।

मुंह लटकाकर दूकानदार पहले अन्नदाता के सामने झुका, फिर पादरी के सामने, फिर पादरी की पत्नी के सामने और बाद में सबके सामने। भौंहों को ऊपर चढ़ाते हुए उसने शराब का एक पेग गले में उंडेल लिया।

अन्नदाता ने अपने कोट के सारे बटन खोल डाले, मानो बड़ी गरमी हो। उन्होंने अपनी आस्तीन बालोंभरी बाज़ू पर थोड़ी सी चढ़ाई। इसके बाद उन्होंने मेज़ पर इतने ज़ोर से मुक्का मारा कि तश्तरियां, प्याले वगैरा हिल उठे, और गिलासों से चाय छलक गई।

"इसमें मैं ज़रा भी कंजूसी नहीं करूंगा!.. कल ही मैं सिदोरका को भेज दूंगा, वह नदी के पार के 'गीले कोने' से ज़मीन नापकर अलगा कर देगा, गिरजे की ज़रूरत के लिए तरकारी-भाजी उसमें हो जायेगी।"

पादरी की पत्नी इतनी उत्तेजित हो उठीं कि अपने चेहरे के चंचल भावों पर बहुत कठिनाई से क़ाबू कर सकीं। पादरी की काली आंखों से स्नेह और भद्रता झलकने लगी।

"लोग इस आदमी को क्यों 'आप' कहते हैं, जबकि वह सभी को 'तुम' कहता है, और तो और, पादरी और उसकी पत्नी तक का लिहाज़ नहीं करता," गालीना बड़ी हैरान हुई।

"गिरजे के सभी सेवकों की ओर से बहुत-बहुत धन्यवाद, निकीफ़ोर लुकीच!"

"कम-से-कम सौ रूबल लगान की ज़मीन है वह... बड़े मज़े का टुकड़ा है!" दूकानदार ने कड़ुवे मुंह से कहा। पर इसके बाद ही वह मुस्करा उठा, उसकी आंखें फिर शैतानी भरी हंसी से चमक उठीं, और उसके सारे चेहरे पर झुर्रियां पड़ गईं।

"उस ज़मीन पर वसंत की बाढ़ का पानी आता है, सचमुच सोने की खान है!" लालच से मुंह चलाते हुए झबरे बालोंवाले बूढ़े ने कहा।

चाय पीने के बाद सब लोग स्कूल के लिए रवाना हुए। स्त्री-पुरुषों की भीड़ की भीड़ उनके पीछे चली। छोटे-छोटे लड़के रास्ते के सूअर भगाते, आगे-आगे दौड़ रहे थे। अन्नदाता और उनके साथ के दूसरे

लोग दरवाज़ों से गुज़रे तो सूरजमुखी के बीज चबाती लड़कियों ने झुककर नमन किया।

स्कूल का मुश्रायना किया गया। निकीफ़ोर लुकीच हर जगह गये। उन्होंने कोना-कोना ग़ौर से देखा और वासीली को आदेश दिये:

"बढ़ई बुलवाओ और उससे लकड़ी की कोठरी पर नया दरवाज़ा चढ़ाने को कहो, ताकि जलाने की लकड़ी तक बर्फ़ न पहुंचे। और देखो, वास्का फ़िनोगेनोव को बुलाओ, चिमनियों की मरम्मत ज़रूरी है, कोने बिलकुल चौपट हो गये हैं। उससे कहो कि सब कुछ ठीक-ठाक कर दे।"

पादरी की पत्नी ने गालीना को धीरे से कोहनी मारी:

"स्कूल के लिए कुछ चाहिए, तो उनसे कहो न, जो भी ज़रूरी है, वे सब कुछ कर देंगे... जाने के पहले ही कह देना।"

गालीना की भौहें सिकुड़ गईं, उसे जैसे ज़िद सी हो गई।

"तुम्हीं तो कह रही थीं," औरत कहती गई।

गालीना ने कोई उत्तर नहीं दिया।

...सारा गांव निकीफ़ोर लुकीच को विदा करने गया। छोटे लड़के, पूरी आवाज़ से शोरगुल करते घोड़ों के आगे दौड़ रहे थे। तमाम औरतों-मर्दों ने विदा के समय झुककर नमन किया। तीनों घोड़े सवारी लेकर दौड़ चले। बक्से पर कोचवान की बग़ल में अंग-रक्षक जमा रहा। उसके कंधे के नीचे पेटी में रिवाल्वर रखा हुआ था।

उसी दिन शाम को गालीना दूकान के पास से गुज़री। ड्योढ़ी पर, और ड्योढ़ी के पीछे कुछ लोग बैठे, बातें करते नज़र आये, बाक़ी लोग अपने-अपने बेंतों के सहारे झुके सुन रहे थे।

"औरत एक भी नहीं है," गालीना ने सोचा।

एक नाटा किसान बहुत कोशिश कर-करके हिज्जे करते और कसे पट्टेवाले घोड़े की तरह अपना सिर हिलाते हुए अख़बार पढ़ रहा था। उसका चेहरा रूखा-सूखा था और बाल किसी जड़ से उखड़े ठूंठ की आपस में उलझी जड़ों की तरह उलझे हुए थे।

"नमस्ते," अपनी टोपी ऊंची करते हुए दूकानदार ने कहा।

दूसरों ने भी गालीना का अभिवादन किया।

"आप लोगों ने अन्नदाता को विदा कर दिया?" गालीना ने पूछा।

उसने पहचाना – इन लोगों में एक तो झबरे बालोंवाला था, दूसरा वह मुखिया था, जो बिच्छू-बूटी का पानी पीता था, तीसरा वह बूढ़ा था, जो पहले-पहल गांव में आते समय उसे रास्ते में मिला था। बाक़ी लोग वे थे, जो साल के शुरू में अपने-अपने बच्चों को लेकर स्कूल आये थे। गालीना इन सब के और नज़दीक आना चाहती थी और उस अज्ञात रेखा को पार करना चाहती थी, जिसने उसे इनसे अलग किया हुआ था। यह रेखा या तो संकोच की थी या उदासीनता की।

"हां, हम उन्हें विदा करने गये थे, भगवान उनका भला करे!" – कई स्वरों ने एक साथ उत्तर दिया।

"वह अंग-रक्षक अपने साथ क्यों रखते हैं?"

"क्य-क्य-क्यों?" – अपने होंठों से चूसने की सी क्रिया करते हुए झबरे बालोंवाला बोला। – "आजकल ज़माना अच्छा नहीं है – क्या पता, कोई उन पर ईंट या लोहा फेंक दे या छिपकर गोली ही चला दे। लोग बिलकुल जानवर हो गये हैं आजकल।"

"क्या निकीफ़ोर लुकीच भलाई के काम बहुत करते हैं?"

"अरे, एक उनके सहारे ही तो हम सब का काम चल रहा है... अगर वह न होते तो... अब आप ख़ुद ही देखिये – मिसाल के तौर पर अगर आप दूसरे ज़मींदारों से ज़मीन लगान पर लें, तो एक देस्यातीना* पर आपको साढ़े अट्ठाईस रूबल देना पड़ेगा, पर वही ज़मीन हमारे निकीफ़ोर लुकीच हमें छ: रूबल में दे देते हैं। देखती हैं आप अंतर। बाढ़वाली ज़मीन जो साग-सब्ज़ी के लिए मिली है, ज़मींदार उसके लिए दो सौ रूबल फ़ी देस्यातीना लेते हैं..."

"उसे ख़रीदना ही चाहें, तो?"

"जी नहीं, सिर्फ़ सालाना लगान पर। हां तो, उसी ज़मीन के लिए निकीफ़ोर लुकीच हमसे सिर्फ़ चालीस रूबल लेते हैं। अब समझीं आप?"

गालीना को ज़मीन और लगानों का कोई अंदाज़ा नहीं था, पर जो अनुपात सामने रखे गये, उनसे बहुत बड़ी बात मालूम होती थी।

---

*देस्यातीना – ज़मीन का एक पुराना रूसी माप, लगभग २.७० एकड़। – **सं०**

"वह कहां के रहनेवाले हैं?"

"यहीं के हैं, इसी गांव के," सब ने एक स्वर से उत्तर दिया–उनके चेहरे गौरव और उल्लास से चमक रहे थे, "वह हमारे ही जैसे हैं–यानी वह भी किसान हैं।"

"और, किसान भी वह बिलकुल दरिद्र थे–एकदम फटेहाल।"

"उन्होंने ठेकों से पैसा बनाया है," दूकानदार ने कहा–उसका चेहरा अजीब ढंग से लंबा हो उठा, और उससे द्वेष झलकने लगा,–"वह ख़ूब जानते हैं कि कहां टका लगायें और कहां से रुपया वसूलें।"

"यह वह अच्छी तरह जानते हैं, आदमी बचकर निकल नहीं सकता उनसे।"

शाम ठंडी थी। गालीना सिहर उठी। पर उसका वहां से चलने को मन न हुआ। उसने सोचा–भला देखूं तो कि मुझे और इन लोगों को इस तरह अलग करनेवाली इस रेखा के उस पार क्या है। शायद आज उसकी झलक मिल ही जाये। सूरज डूब गया, नारंगी लपटें ठंडी पड़ गईं, अंधेरे घरों के पीछे से धीरे-धीरे जगमगाता हुआ रुपहला नया चांद निकल आया।

गालीना शीतल चांदनी में डूबी सूनी सड़क पर जा रही थी। कंधों पर भेड़ की खाल का कोट डाले एक औरत नीली परछाइयों पर चलती उसके पास आई। अपने हाथों को गरम रखने के लिए उसने उन्हें जैकेट में घुसा रखा था।

"अलेक्सांद्रोव्ना," गालीना के सामने झुकते हुए औरत बोली, "दया कर ज़रा देर के लिए मेरे यहां चली चलिए। मेरी छोटी बच्ची का बदन फुंक रहा है, और वह चुकंदर की तरह लाल अंगारा हुई जा रही है। कुछ नहीं खाती है, बस पानी पीये जाती है, बड़ी प्यास है उसे–पानी को मुंह से हटाने नहीं देती। ज़रा आइये, एक निगाह देखिये तो उसे। मैं एक लोटा दूध आपके लिए ले आऊंगी।"

सड़क का एक सिरा पाले से सफ़ेद हो गया था। गालीना सड़क के उस पार से इस पार आई, और झोंपड़ी में घुसी। कमरे की हवा बदबूवाली, घुटन से भरी और भारी थी। छोटे से लैंप की लाल लौ नाम को ही नज़र आ रही थी, और उस पर काजल के धुएं का बादल सा मंडरा रहा था। इससे उदासी और बढ़ गई थी। चूल्हा, बड़े से संदूक

के कोने और मेज़ की बस हल्की सी छाया-आकृति दिख रही थी। दीवारों के साथ दौड़ते तिलचटे सरसरा रहे थे।

तिलचटों की सरसराहट में कोलाहलपूर्ण और घरघराहटदार सांस की आवाज़ भी मिली हुई थी। गालीना ने सांस रोकने की कोशिश की, और झुककर एक नज़र डाली, तो आधा बचकाना, लाल चेहरा कठिनाई से ही दिखाई पड़ा। ख़ुश्क होठों के बीच से उजले दांत ज़रूर चमक रहे थे।

उसके मन में एक अजीब डर समा गया और इससे जैसे उसका दम ही निकल गया। उसने कोशिश की कि कहीं उसके कपड़े मेज़ या संदूक में न फंस जायें। घर से बाहर निकल जाने तक उसने सांस रोकनी चाही, तो इससे उसके दिल की धड़कन धीमी और पीड़ादायी ही हो गई।

"डिप्थीरिया से कई बड़ों की जानें भी जाती रहती हैं! अगर मैं उसकी चारपाई पर ज़्यादा झुकी, तो बस मेरा तो काम तमाम..."

वह कपड़े संभालती हुई पीछे हटी कि कहीं पल्ला चूल्हे से न लग जाये।

"मैं तो यहां कुछ भी नहीं कर सकती, मैं तो डॉक्टर नहीं हूं... आपको डॉक्टर बुलाना चाहिए।"

औरत सिसक पड़ी। उसने अपनी नुकीली नाक उंगलियों से रगड़ी और सिनकी।

"उसे कोई-कोई पुड़िया-वुड़िया दे दीजिये न, शायद कुछ फ़ायदा हो ही जाये।"

गालीना का मन चाहा कि वह तुरंत घर से बाहर खुले में निकल जाये जहां वह खुलकर हवा में सांस ले सके। और अपने पास पड़ी खांसी की पुड़ियां वासीली के हाथ भेज दे।

बोली, "आपको डॉक्टर की ज़रूरत है, मैं तो कुछ भी नहीं कर सकती... कुछ पुड़िया अभी भेजे देती हूं।"

उसने आंखें उठाईं, तो चूल्हे के ऊपर की सोने की टांड़ से तीन नन्हे-नन्हे मुंह नीचे की ओर झांकते देखे। बच्चों की आंखों में उत्सुकता थी।

"हे भगवान! इन्हें तो यहां से तुरंत अलग कर देना चाहिए!" — उसने मन ही मन सोचा।

अचानक ही स्कूलवाला उसका छोटा कमरा, कमरे की अकेली खिड़की, मकानों की वही पुरानी पांत, कुआं और सदा के से वही सफ़ेद हंस सब ऐसे सूने और ख़ाली लगे कि उसका हृदय मृदुल हो उठा। आंसुओं के कारण दीवारें धुंधला गईं।

उसने जल्दी से जाकेट उतार डाली।

"आख़िरकार जीवन में कुछ न कुछ तो मुझे मिलना चाहिए... किसी न किसी तरह मुझे जीना तो है..."

जाकेट दरवाज़े के पास टांग दी—वहां उसमें हवा कुछ ज़्यादा लगेगी, और रोग के कीटाणुओं का असर भी कुछ कम ही होगा।

सोचने लगी, "लाल बुख़ार हो, तो गले या पेट में चकत्ते ज़रूर पड़ जाते हैं..."

उसके दिल में कोई ठंडा डला सा कहीं अटक गया—डर के मारे। गालीना बच्ची की झुलसती देह की परीक्षा करने लगी।

"पा-पा-पानी!"

"ज़रा और रोशनी कीजिये! .. आपको तो बत्ती काटना भी नहीं आता... चिमनी की तरह धुआं दे रही है... अपना गला दिखाना, मुन्नी, मुंह खोलो... और बड़ा... हे भगवान, कुछ भी तो नज़र नहीं आता! जंगल की तरह अंधेरा घुप्प है..."

वह असहाय हो, आशंका से, अपने हाथ मलती बेंच पर बैठ गई। इसके बाद संकल्प के साथ उठ खड़ी हुई।

"सीधे दूकान पर जाइये, और सिरका ले आइये।"

"वह नहीं देगा—कहेगा, रात को मैं दूकानदारी नहीं करता।"

"उससे कहियेगा... क्या है उसका नाम?"

"इवान फ़्योदोरोविच!"

"इवान फ़्योदोरोविच से कहियेगा—मैंने मंगवाया है, मुझे बहुत सख़्त ज़रूरत है, यह रहे कुछ रूबल।"

वह सिरका ले आई। गालीना ने सिरका बच्ची के बदन पर मला, बिस्तरा ठीक किया, और रोगी को फिर से लेटा दिया। इसके बाद उसने औरत से समोवार जलाने को कहा, ख़ुद चाय और चीनी के लिए दौड़ी घर आई, और वापस जाकर बच्ची को गरम-गरम चाय पिलाई।

"आपको दूसरे बच्चों को यहां से अलग हटा देना चाहिए।"

"कहां ले जाऊं? गोशाला में तो सरदी है!"

"किसी दूसरे ऐसे घर में ले जाओ, जहां बच्चे न हों।"

"मुझे तो कुछ पता नहीं। ईश्वर चाहेगा तो उनका बाल भी बांका न होगा, और ईश्वर न चाहेगा तो ज़मीन के अंदर छिपा देने पर भी जो होना होगा सो होगा ही। शायद आन्नुश्का इन्हें अपने यहां रख ले। वैसे वह है तो अकेली।"

बच्चों को किसी तरह वहां से अलग किया। गालीना घर की सफ़ाई करने में जुट गई। औरत की मदद से उसने कमरा झाड़ा-बुहारा, लड़की को और गरम कपड़ों में लपेटा, और ताज़ी हवा के लिए कमरे का दरवाज़ा खोला। यही नहीं, उसने लैंप की ढिबरी साफ़ की, चिमनी धोई और बत्ती काटी। अब रोशनी तेज़ हुई तो कुछ कमरा नज़र आया— उसमें बड़ा संदूक, चूल्हा, दीवार में लगी तस्वीरें और फ़ोटो, सब नज़र आ रहा था अब।

इसके बाद वे दोनों बाहर आईं और ड्योढ़ी की सीढ़ियों पर बैठ गईं। गालीना सोचने लगी आश्चर्य से:

"मेरे मन का डर कहां गया?"

उसके हृदय के अंदर का ठंडा डला गल चुका था। इतने काम के बाद उसके हाथ-पैरों में मीठा-मीठा दर्द होने लगा था। पर, पाला चुभन सी कर रहा था। अहाता, झोंपड़ी, गाड़ी, सूने बेंत, और बाड़े सब शीतल, नीले, झलमल करते सागर के तल में समा गये। ऊपर, बहुत ऊपर शांत-सौम्य नीले गगन में अनगिन तारे जगमगा रहे थे और अकेला तैरता सा चांद!

"कैसी जगमग रात है!"—गालीना ने कहा। वह कहना चाहती थी:

"तुम्हें नज़र नहीं आता, कैसा जादू है? एक नीला सागर है और ड्योढ़ी में बैठे हम मानो उसके तल में चल-फिर रहे हैं, ड्योढ़ी पर... ऐसे में कुछ भी सोचने-समझने, बोलने-बतलाने का मन नहीं करता। अगर कोई विचार दिमाग़ में आता भी है, तो किसी ऐसी चीज़ के बारे में आता है, जिसका इन घरों, झोपड़ियों, बाड़ों और इस ड्योढ़ी से कहीं कोई संबंध नहीं है।"

पर औरत ने उसके कहे हुए शब्द ही समझे:

"चांद साफ़ चमक रहा है। जाड़ा इस बार कुछ जल्दी ही आ गया है। अभी तक तो बरसात ही होनी चाहिये थी। अब की जलावन की तकलीफ़ ही जायेगी।"

"आपके पति कहां हैं?"

"मैं विधवा हूं। हमारी ज़िंदगी किसी से उन्नीस नहीं थी—हम अपना खेत जोतते थे—और हमारे पास साग-सब्ज़ी का खेत भी था। मुझे किसी तरह की कोई शिक़ायत नहीं थी, जब वह ज़िंदा थे, तो..." वह फूट कर रो पड़ी।—"पर, मैं क्या कर सकती हूं, एक अकेली, औरत की जात... मुझे अपनी गाय तक बेच देनी पड़ी।"

"तुम्हारे पास ज़मीन नहीं है?"

"अरे, वह भी कोई ज़मीन है! घर के हर व्यक्ति के हक़ में एक देस्यातीना का आठवां हिस्सा भी तो नहीं पड़ता। अगर निकीफ़ोर लुकीच न होते, तो गांव में कहीं कोई बाक़ी न रहता। वही तो हमारा मुंह भरते हैं, हमारे अन्नदाता हैं।"

"वह भले आदमी हैं!"

"उह, वह निर्दय आदमी है! जंगली..."

"पर, सब लोग तो उन्हें बहुत चाहते हैं, उनका स्वागत करने के लिए गांव के बाहर तक जाते हैं।"

"लोग और क्या कर सकते हैं? वे उनका सिर्फ़ स्वागत ही नहीं करते, बल्कि वे चाहें, तो गांववाले उनकी राह में बिछ जायें और निकीफ़ोर लुकीच चाहें, तो उनके ऊपर से होकर निकल जायें। वह हमारे सारे गांव को अपनी मुट्ठी में रखते हैं। उन्होंने आसपास की सारी ज़मीन ख़रीद ली है—ज़मींदारों को ख़रीद लिया है। गांव से बाहर जाने का कोई रास्ता भी नहीं है। सेलिवानोव्स्की की जागीर उन्होंने ख़रीदी, राजा बोगोदुगेयेव्स्की की रियासत उन्होंने ख़रीदी, और किरपिचेन्को की ज़मीन-जायदाद उन्होंने ख़रीदी। जिधर भी आंख उठाओ, सारी ज़मीन उन्हीं की है। अगर वह चाहें, तो गाय का एक बछड़ा भी गांव के बाहर न जाने दें। कोई चारा नहीं है। उन्होंने ऐसा घेरा डाला हुआ है चारों ओर से।"

कांच सा चमकता आसमान निश्चल, पर परछाइयां हिल रही थीं, झोंपड़ी की रोशनी बुझ गई, तो बाड़ा अंधेरे में डूब गया। कोने से एक

काला टुकड़ा सा ओसारे को काट रहा था और तारे जड़े नीले आकाश की पृष्ठभूमि में बेंत की नंगी शाखों की काली आकृतियां उभर रही थीं।

ओसारे के अंधेरे से झबरा सिर और गोखरुओं से भरी मोटी दुम हिलाता कुत्ता निकलकर उन दोनों तक आया और घरवाली के पास खड़ा हो गया। बीच-बीच में वह अपना मुंह दूसरी ओर करके गुर्राता जाता था – वहां, बहुत दूर, गांव के किनारे कोई दूसरा कुत्ता बराबर भूंक रहा था। वह बीच में ज़रा-ज़रा देर को अपनी आवाज़ सुनने के लिए चुप हो जाता। फिर कुछ सोच कर, दो-चार क़दम चलकर ठंडी ज़मीन पर पसर गया और बड़े अंदाज़ से अपना पिछला पैर ऊपर उठाकर पिस्सू मारने लगा। आख़िर वह गेंद की तरह गुड़ी-मुड़ी हो गया और सब कुछ नीरव हो गया।

"हे, भगवान! लोग ऐसे सन्नाटे में जीते कैसे हैं?" – गालीना अचरज से सोचने लगी।

दूर के कुत्ते ने भूंकना बंद कर दिया। मकान की परछाईं रेंगती-रेंगती ज़मीन पर पड़ी बालों की गेंद पर पड़ने लगी।

"तुम लोग ग़रीबी, जहालत और गंदगी में रहते हो। घरों के छप्परों का पयाल काला पड़कर लटक गया है।"

"यह क़सूर तो इन मर्दों का है – वे लालची हैं – ज़रा सोचिये तो, जो ज़मीन ज़िले का कोई दूसरा ज़मींदार अट्ठाईस या तीस रूबल फ़ी देस्यातीना पर देगा, वही ज़मीन निकीफ़ोर लुकीच इन्हें पांच या छः रूबल पर दे देते हैं। इसका मतलब यह है कि इनकी जेब गरम बनी रहती है। इस तरह से रूबल जमा करते रहते हैं, करते रहते हैं, और जब गांठ भारी हो जाती है, तो कहीं और जाकर ख़ुद अपनी ज़मीन खड़ी कर लेते हैं। ऐसे कितने ही लोग यहां से चले गये हैं! हम भी ऐसा ही करना चाहते थे, पर मेरा आदमी ही गुज़र गया। निकीफ़ोर लुकीच ने इस इलाक़े के सारे दूसरे गांवों को चूसकर रख दिया है। लोगों की जान निकाल ली है। भेड़ों की तरह खाल खींच ली है। ईश्वर न करे कि हम उनकी तरह नंगे-भूखे हो जायें। उनके बच्चे मक्खियों की मौत मर रहे हैं। तुमने इन अन्नदाता महोदय का रखवाला तो देखा है न? वह सदा साथ रहता है, क्योंकि लोग उन्हें मार डालने की फ़िक्र में हैं। अपने आत्म-कल्याण के लिए वे हमारे गांव की देखरेख

करते हैं। आपको पता है वे इसी गांव के हैं, और यहीं की लड़कियां उनके लिए ईश्वर की स्तुति करती हैं। लेकिन, छी:! एक-न-एक दिन वे अपने-आप मर जायेंगे या कोई दूसरा उनको मार डालेगा... लोग हाथ धोकर उनकी जान के पीछे पड़े हुए हैं," औरत गालीना की ओर झुकी और अंतिम शब्द उसने ज़रा फुसफुसाकर कहे।

कुत्ते ने अपना सिर उठाया, इधर-उधर देखा, और फिर गुड़ी-मुड़ी हो रहा।

"...अगर कभी उन्हें कुछ धुन हो गई और उन्होंने हमारे गांव को चूसना शुरू कर दिया, तो समझो हम बेमौत मर जायेंगे। फिर उनपर बंधन नहीं लग सकेगा। इसीलिए ये लोग कंजूस हैं और पैसा बचाते हैं। इसीलिए वे मकानों को ढंग से नहीं रखते और बंजारों जैसी ज़िंदगी जीते हैं।"

गालीना नीली झाईं मारती सूनी सड़क पर आई और जमी हुई दलदल के ऊंचे-नीचे रास्ते पर संभलती, पैर जमाती घर पहुंची। नीली रोशनी से स्कूल की खिड़कियां चमक रही थीं।

गालीना ने मोमबत्ती जलाई तो जब से आई थी तब से अब तक पहली बार उसे अपना कमरा सुखद लगा। वह दूसरे ही क्षण बिस्तरे में घुस गई। ज़रा देर में गरमा गये बिस्तर पर लेटी-लेटी वह नींद से लड़ने लगी। सोचने लगी :

"हर चीज़ उल्टी है : मैंने तो सपने में भी न सोचा था, एक तरफ़ बच्चे हैं, गंदे-लड़ाकू... और, आदमी हैं... उनकी ज़िंदगी झूठ और बनावट का जीती-जागती तस्वीर है। वे 'अन्नदाता' का स्वागत करते हैं, उसके सामने फिर झुकाते हैं, उसके लिए दुआएं मांगते हैं, जबकि वैसा एक शब्द भी कहने का उनका मन नहीं है। लोग कहते हैं जनता में सच्चाई है... क्या कमाल की सच्चाई है!.. मैं सोना चाहती हूं... उनमें कुछ बच्चे तो बहुत अच्छे हैं... कल सुबह तो शायद देर तक सोऊंगी... मैंने सोचा था कि मैं एक काम करूंगी, अपनी तरह से जिऊंगी, पर सब कुछ कुछ और ही तरह होता जा रहा है... और लोग भी तो मेरी कल्पना से भिन्न हैं... इस समय क्या ख़्याल आ रहा है मेरे दिमाग़ में?.."

विचार समाप्त भी न हुआ था कि थकान से भरी आंखें झपकने लगीं। और लंबी-लंबी पलकों पर नींद उतरने लगी, धीरे-धीरे-धीरे।

किसी कारणवश गालीना और गांवों के लोगों के बीच की विभाजन-रेखा मिटने लगी। लोग उसके पास आने लगे — कभी चिट्ठी-पत्नी लिखवाने, कभी ग्राम परिषद के मामलों में सलाह-मशवरा लेने, और कभी घर-बाहर के बारे में पूछने। कुछ दवा-दारू के लिए भी आते थे।

उसने बीमारी, गंदगी और ग़रीबी को अधिक महत्व कभी न दिया था, पर उसके चारों ओर का वातावरण दुख और यातना से इतना बोझिल था कि उसे इस ओर ध्यान देना पड़ा।

प्राय: उसके पास औरतें आती थीं। इलाज का थोड़ा-बहुत ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसने डाक्टरी की किताबें मंगवाईं।

"आप अस्पताल क्यों नहीं जातीं? .. आपको डॉक्टर की ज़रूरत है... मैं क्या कर सकती हूं? .. अस्पताल कोई यहां से दूर तो है नहीं।"

"बहनजी, अस्पताल तो यहां से हाथ भर की दूरी पर है, जंगल के ठीक पीछे, पर, वह हमारा इलाक़ा नहीं है — हमारे गांव की सीमा जंगल में से है, और वहां के लोग हमारा इलाज नहीं करते। उनका कहना है — अपने डॉक्टर के पास जाओ — हमारे अपने ही मरीज़ बहुत हैं! हमारे डॉक्टर हैं तो ज़रा कड़े, पर उनके हाथ में शफ़ा है। गांव में बुख़ार फैला, हर घर में किसी न किसी ने चारपाई पकड़ ली, तो डॉक्टर आये, और कुछ समय तक यहीं रहे, उन्होंने रात-दिन एक कर दिया, पर बुख़ार की रोक-थाम करके ही दम लिया, भगवान उनकी उमर लगाये। लेकिन, बात यह है कि इतनी दूर, उनके पास जाया नहीं जाता — यहां से चालीस वेर्स्ता* है वह जगह, दो दिन लग जाते हैं रास्ते में; और, वहां है अस्पताल।"

अनाड़ीपन और कुछ संकोच के साथ उसने डॉक्टरों की तरह सीने ठकठका कर देखे और फेफड़ों की आवाज़ सुनी। वह यह इस तरह करने की कोशिश करती कि लोग उसका अनाड़ीपन न जान लें। वह बीमार और स्वस्थ आदमी में फ़र्क़ करने की पूरी कोशिश करती। बच्चों को दस्त हुए, तो वह उनका इलाज करती और औरतों से उनकी बीमारी के सिलसिले

---

*वेर्स्ता — लंबाई का पुरानी रूसी माप है, लगभग १.०६ किलोमीटर। — **सं०**

में बातें करती, पर, सब लगातार एक अजीब और नैमित्तिक ढंग से हो रहा था, जिससे कुछ भी उस तरह नहीं होता था, जिसकी वह अपेक्षा करती थी।

एक दिन उसके पास एक अधेड़ औरत आई। उसका सीना सपाट था, और काले रूमाल में से उसका पीला ज़र्द, थका सा, हड्डी निकला चेहरा नज़र आ रहा था। उसके पीछे-पीछे आया एक भला सा जवान लड़का। उसकी दाढ़ी-मूंछ साफ़ थीं और लोहार के घनों जैसे बड़े-बड़े हाथ दोनों तरफ़ लटक रहे थे। उसके आते ही कमरा बदबू से भर गया।

बूढ़ी औरत ने अपने उमड़ते हुए आंसू किसी तरह संभाले, और बिना बरौनियों की लाल पलकें झपकाते हुए कहा :

"यह है मेरा बेटा। मैं लाख कहती हूं, पर यह मेरी एक नहीं सुनता। मैं इतना कहती हूं, पर यह अपनी ज़रा भी चिंता नहीं करता। अगर इसके पिता ज़िंदा होते, तो वह इसकी ख़बर लेते। मारते-मारते इसकी कमर की चमड़ी उधेड़ डालते और तब यह लड़का सोना होता, सोना।"

"बात क्या है?"

बूढ़ी ने एक हाथ से अपने मुड़े हुए रूमाल को अपने सीने से लगाया, और दूसरे से लड़के को आगे ठेल दिया। लड़का विस्मय और अनिश्चय के हाल में था। मां बोली :

"कोई बात नहीं बेटा, कोई बात नहीं, इन्हें डॉक्टरनी ही समझो... शर्माओ नहीं... तुम बैल की तरह अड़ियल हो, बैल की तरह, हां, हां, तुम बिलकुल बैल हो।"

लड़के ने शर्म के मारे खीसें निकालते हुए अपनी बड़ी-बड़ी, गांठदार, अकड़ी हुई उंगलियों से पतलून टटोलकर पेटी ढीली की और अपराधी की भांति मैल से चिपचिपी, बुरी तरह गंधाती क़मीज़ को खींचकर उतार दिया।

गालीना इस तरह झटके से पीछे हटी कि गिरते-गिरते बची। अचानक ही बेबसी में चीख़ पड़ी :

"जाओ, निकल जाओ यहां से... चले जाओ!.. क्या मतलब है तुम्हारा?.. मैं हुकुम देती हूं–निकल जाओ यहां से... वासीली, इन्हें

यहां से बाहर ले जाओ... हे भगवान, ये कैसे ऐसा... आख़िर कैसे जान छूटेगी मेरी यहां से?"

वह फूट पड़ी, क्लास में भाग गई, और उसने अंदर से दरवाज़ा बंद कर लिया। बुढ़िया ने रूमाल से गीली पलकें पोंछीं, और अपना दूसरा हाथ सीने पर दबाते हुए दरवाज़े के सामने आदर से झुकी:

"बेटी मेरी, तुम हम ग़रीबों से नाराज़ न होओ। हमें तो ईश्वर ने ही सज़ा दे रखी है... मैंने इससे इतना कहा था कि ज़रा अपनी देख-भाल करो और इन लड़कियों के फेर में न पड़ो, ख़ास तौर पर उस पिचकी नाकवाली फ़ेन्का के पास न फटको। पर, आजकल के ये लड़के कहां किसकी बात सुनते हैं! अगर इसका बाप आज ज़िंदा होता तो इसकी ऐसी मरम्मत करता कि यह लड़कियों के घरों के रास्ते भूल जाता। और फ़ेन्का तो पूरी तरह सड़ी हुई है। और अस्पताल यहां से पूरे पैंतीस वेर्स्ता है। हमने पुल्टिस लगाई, पर भला क्या होता है पुल्टिस से! इसे जाना तो चाहिए अस्पताल, पर यह वहां टिक कैसे सकता है, खेत पर काम करनेवाला यही तो अकेला है। फिर, किसी आदमी के बिना घर का सारा कामकाज अकेले मुझसे कैसे चलेगा? हर चीज़ चौपट हो जायेगी, बारह-बाट हो जायेगी। कोज़लिख़ा ने इसके बदन पर दवा बुरकाई। चांदनी रात थी उस दिन, सो बस, पाउडर बदन पर लगते ही यह सिर्फ़ कमीज़ पहने पागलों की तरह सड़क पर दौड़ने लगा, और चक्की तक दौड़ता चला गया, चक्की कोई यहां तो है नहीं, कम से कम छः वेर्स्ता तो है ही यहां से, फिर, भागा-भागा वापस आया। कहने लगा–'मां, बड़ी जलन हो रही है, सहा नहीं जाता।' लेकिन, उससे इसे फ़ायदा हुआ। छाले फूट गये, मवाद निकल गया। इसे वही दवा और लगानी चाहिए थी, पर रस्सी से बांधकर घसीटो, तब भी कोज़लिख़ा के के पास जाने को तैयार नहीं होता। तुम ख़ुद ही देख लेना, कुछ दिन बाद तो इससे चला-फिरा भी नहीं जायेगा।"

वासीली आया। उसने कंधे पकड़कर औरत को बाहर ढकेल दिया, और लड़के की पीठ में ऐसा घुटना मारा कि वह लड़खड़ाता हुआ सीढ़ी के नीचे जा पड़ा।

सारी घटना से गालीना का मन ऐसा ख़राब हुआ कि वह लंबे समय तक यह घिनौना दृश्य मन से न निकाल सकी। घिन से सिहर-सिहर उठती

थी। उसने वासीली को आदेश दिया कि कोई मर्द अंदर न आने पाये। यहीं नहीं, सड़क-गली में वह किसी जवान लड़के या मर्द को देखती, तो ऐसे निगाहें नीची कर लेती, जैसे कि वह उसका दुश्मन हो। उन्हें देखकर ही उसे घृणा होती थी।

पर, इस पर भी किसान तो उसके पास आते ही थे—किसी की उंगली गाड़ी की पटरी के नीचे दबकर कुचल गई है, किसी की कड़ी हथेली में फोड़ा हो गया है, और किसी को बुख़ार आ गया है कि उसका बदन पत्ते सा कांपता है, और चेहरा मौत की तरह पीला पड़ गया है।

समय धीरे-धीरे बीतता गया—नीरसता भरा, कहीं कोई भी विशेष बात नहीं, बच्चे उसी तरह शोर-गुल करते, लड़ते-झगड़ते, रोते-गाते और बेअक़्ली के काम करते। भूरे, उदासी से भरे दिन बराबर छोटे ही छोटे होते गये।

एक दिन वह सोकर उठी, तो देखती क्या है कि सारा कमरा सफ़ेद है। उसने खिड़की से बाहर झांककर देखा—वहां भी हर चीज़ सफ़ेद थी—गली-सड़क, हाते-बाड़े, छतें और बादल, सब कुछ। इस धवलता के साथ-साथ मृदुल सा, कोमल सा मौन भी धरती पर उतर आया था। सड़क पर एक घोड़ा धीरे-धीरे चलते हुए अपना झबरा अयाल वाला सिर हिला रहा था। स्लेज-गाड़ियां चलती थीं, तो बर्फ़ छिटककर इधर-उधर हो जाती थी। कौआ छत से बर्फ़ छितराता हुआ चुपचाप मकानों के ऊपर-ऊपर उड़ा जा रहा था।

इस सार्वत्रिक मौन को स्कूल दौड़ते, लाल-लाल गालोंवाले बच्चों की चीख़ें और शोर ही भंग कर रहे थे।

बहुत दूर, गांव के कहीं बाहर घंटियों की आवाज़ हवा में गूंजी, पर ऐसी धीमी जैसे कि मक्खी-मच्छरों की भनभनाहट। पर, फिर गूंज बढ़ती गई। आख़िरकार गिरजे के आसपास आकर आवाज़ थम गई।

कौन हो सकता है?

गाश्का खाने के बाद दौड़ती स्कूल आई, और सीढ़ियां पार कर झपटती हुई गालीना के पास पहुंची। उसके फूले हुए, लाल-लाल गालों से सरदी और बर्फ़ की ताज़ी महक आ रही थी। उसकी बड़ी-बड़ी हंसती आंखें ख़ुशी से चमक रही थीं।

"मालकिन ने आपको बुलाया है—एक मेहमान आये हैं।"

"कौनसे मेहमान?"

"ओह, सांवरे से..." – वह हंसी से लोटपोट होने लगी – "आंखें ऐंचीतानी हैं," – और फिर हंसी से दोहरी होने लगी।

गालीना ने गाश्का को ग़ौर से देखा।

"गाश्का, तुम्हारी उम्र क्या है?"

स्वस्थ, गुलाबी चेहरा एकदम गंभीर हो उठा। जगमगाती बड़ी-बड़ी आंखों की हंसी जाने कहां उड़ गई। निगाहें गालीना पर गड़ गईं। हंसी के ठहाकों के थमते ही लड़की बुद्धू सी लगने लगी, और उसकी भारी ठोड़ी से कुछ जंगलीपन सा टपकने लगा।

"सात साल की होने तक तो मैं बोली भी नहीं थी।"

"लड़की सुंदर है," गालीना ने सोचा और पूछा:

"तुम कहां की रहनेवाली हो, गाश्का?"

गाश्का गालीना को उसी तरह घूरती रही। उसकी आंखें पहले से कहीं ज़्यादा फैल गईं।

"मां मुझे बहुत ही मारती थी, और बाप..."

"तुम यहीं पैदा हुई थीं?"

"नहीं..." उसने सिर हिलाया, "पुज़ोवका में।"

उसका चेहरा फिर खिल उठा, फिर स्वास्थ्य, शक्ति और हास्य की तस्वीर सामने सज गई, और वह फिर हंसने लगी:

"मेहमान हैं!.. जल्दी कीजिये!.."

वह क्लास में से दौड़ कर गई, तो फ़र्श के तख़्ते उसके बोझ से दबने और चरमराने लगे। उतरते हुए बर्फ़ सी ठंडी सीढ़ियां चर-चर करती थीं। लड़की सड़क पर आई और मालिक के घर की ओर दौड़ी तो रास्ते में उसके फ़ेल्ट के बूटों से बर्फ़ इधर-उधर उछलती रही।

गालीना पादरी के घर पहुंची, तो सदा की तरह उस दिन भी उसका बड़ा स्वागत-सत्कार हुआ। हमेशा की तरह आज भी वह अपने साथ एक पत्रिका पादरी की पत्नी के लिए लाई थी। वैसे होता यह था कि पादरी की पत्नी हमेशा पत्रिका का आग्रह करती थीं, और मिलने पर बड़े जिज्ञासु-भाव से पन्ने उलटने-पलटने लगती थीं, पर गालीना के दुबारा आने पर बेपढ़े वापस कर देती थीं और नई प्रति की मांग दोहरा देती थीं।

"लो, परिचय करा दूं," पहले गालीना की ओर, फिर पादरी की ओर, और फिर अतिथि की ओर देखते हुए पादरी की पत्नी बोलीं। "यह हमारे डॉक्टर हैं और, यह हैं हमारी गालीना।" उस आदमी की उम्र क़रीब ३०-३२ साल थी, काले बाल थे, काली, पैनी और कुछ तिरछी आंखें थीं। पादरी की पत्नी ने गालीना को चूमा और कनखी से पादरी की ओर देखा। पादरी ने तुरंत ही आंखें वहां से हटाकर डॉक्टर पर निगाहें गड़ाते हुए बड़े ही आग्रह और स्नेह से कहा—"आप लोगों में मैत्री हो जानी चाहिए।"

डॉक्टर ने लापरवाही से गालीना से हाथ मिलाया। उसका चेहरा गालीना की तरफ़ था, उसकी काली, चमकदार आंखें गालीना के पार खिड़की के परदों पर लगी थीं। आंखें इस तरह भेदनेवाली थीं कि उनसे उन्माद का आभास होता था।

"कुरमोयारोव, ज़िला-डॉक्टर," डॉक्टर ने रूखेपन से कहा, तेज़ी से सिर हिलाया और मुड़कर लीदा के पास चला गया।

"पी रही हो न? ठीक, पी डालो... इसके बाद हम तुम्हें सूई भी लगायेंगे। गरमी आते-आते नाचने के लायक़ हो जाओगी तुम।"

"ईश्वर करे कि ऐसा ही हो!"—मां की आंखों में आंसू झिलमिलाने लगे।

पर, इसी बीच डॉक्टर ने कमरे में इधर से उधर टहलना शुरू कर दिया। उसके चौखूंटे सिर के काले बाल बिखरे हुए थे। उसने केनरी-चिड़िया के पिंजरे में उंगली डाली और खिड़की पर उंगलियां पटपटाईं। वह सोफ़े पर बैठ गया, उछलकर खड़ा हो गया, कालीन के उल्टे हुए सिरे को गुस्से से ठोकर मारकर सीधा किया और एक तरफ़ खड़े होकर सामने कोने में देखते हुए गालीना से पूछा:

"बाक़ायदा पढ़ी थीं?"

गालीना सिहर उठी। सोचने लगी:

"यह भला कैसा इम्तहान है?"

"माध्यमिक विद्यालय ख़त्म किया है।"

"हुं..."

डॉक्टर ने फिर इधर-उधर चहलक़दमी की और अकारण ही कालीन को फिर ठोकर लगाई।

"डॉक्टर की दाढ़ी कितनी हल्की है और इसका रंग तो ऐसा पीला है, जैसा किसी मंगोल का," गालीना के मन में विचार कौंध गया।

डॉक्टर जाकर फिर गालीना की बग़ल में खड़ा हो गया और दूर देखने लगा:

"तो, आप यहां आई हैं अपनी आस्थाओं के कारण? यहां के किसानों में नई रोशनी जगाने, है न?"

गालीना ने भौहें सिकोड़ीं तो सलवटें सी पड़ गईं।

परीक्षा?!

चाय के समय उन्होंने एक-दूसरे से एक शब्द भी नहीं कहा।

रात में बर्फ़ काली-सफ़ेद खिड़कियों से ज़रा-ज़रा झलकती लग रही थी। घड़ी टिक-टिक-टिक कर रही थी।

डॉक्टर गिलास से चाय की चुस्की लेते-लेते बातें कर रहा था;

"भगवान ही जानता है कि ये लोग किस धातु के बने हैं... पुज़ोवका में मसूड़े फूलने की बीमारी फैली हुई है, सोच सकते हैं आप?"

"बिलकुल उत्तरी ध्रुव की तरह," पादरी दिमीत्री बोले।

"मैं अपने सहायक के साथ घर-घर नीबू का तेज़ाब और फलों का रस बांटता हूं।"

"पहले तो उनके पेट में कुछ डालना है," पादरी की पत्नी ने कहा।

पादरी दिमीत्री ने क्रोध से पत्नी की ओर देखा:

"पेट में डालना है!"

डॉक्टर अपना पैर घुटने पर रखकर जूते का तल्ला देखने लगा कि वह निकल तो नहीं गया। इसके बाद उसने सिगरेट का एक लंबा कश खींचा और झुककर स्टोव के खुले दरवाज़े में धुआं छोड़ा। इसी ओर से फ़र्श पर जहां-तहां, हल्के-हल्के झिलमिलाता हुआ, गरमी सी देता रोशनी का टुकड़ा सुखद लग रहा था।

डॉक्टर कहता गया:

"हम एक घर में गये... घर का मालिक दम तोड़ रहा था– उसकी आंतें उतर आई थीं, जिसका इलाज नहीं किया गया था। वह बेंच पर पड़ा हुआ था, हाथ नीचे लटक रहे थे, पैर नीले थे। अपना स्कर्ट

ऊपर को खोंसे पत्नी चूल्हे के पास काम में जुटी हुई थी। कच्ची मिट्टी के फ़र्श पर एक बच्चा लेटा था, उसका सिर एक सूअर के पेट पर टिका हुआ था, सूअर घुरघुरा रहा था और वे दोनों ही ख़ूब प्रसन्न थे। बेंच के पास आदमी को देखता हुआ बछड़ा खड़ा था। बछड़े ने उसके पेट के ऊपर से क़मीज़ का सिरा खींचा और चबाने लगा। आदमी ने बड़ी कोशिश के बाद अकड़ी हुई उंगलियां हिलाईं, बछड़े की ओर से आंखें हटाकर, जैसे-तैसे पत्नी की ओर देखकर कहा, 'तुम ज़रा सी निगाह नहीं रख सकतीं, शैतान!' स्त्री चूल्हे के पास से हटी और बछड़े के मुंह में हाथ मारती हुई, बोली, 'भाग यहां से! .. और तुम चुपचाप पड़े रहो! अगर ईश्वर ने ऐसी ही सज़ा दी है, तो चुपचाप लेटे रहो, देखो न, किस तरह लेटे हुए हैं! सभी कुछ बिगड़ चुका है, और इन्हें कोई फ़िक्र नहीं है! ..' मैंने नब्ज़ देखी, इंजेक्शन के लिए सूई निकाली, कपूर निकाला, और उसे एक ख़ुराक दवा दी। हालत बहुत ख़राब थी। बस आख़िरी वक़्त—औरत ने सिर दरवाज़े के बाहर निकाला और चीख़ी—'गाश्का! गाश्का! जाने कहां भाग गई कुतिया!' बच्चों की आवाज़ें आ रही थीं, वे ड्योढ़ी में खेल रहे थे। पत्नी ने पति की ओर देखा, हाथ मले और चिल्लायी, 'दम तोड़ रहे हो! मुझे क्यों छोड़े जा रहे हो? ..' पति की आंखों में मौत झांक रही थी, किसी तरह उसने आंखें घुमाकर पत्नी की ओर देखा, और बहुत ही टूटी आवाज़ में बोला, 'तुम मर जाओ... तुम...' उसकी बात पूरी भी न हुई थी कि उसका जबड़ा लटक गया। औरत ज़मीन पर गिर पड़ी, और लाश पर सिर रखकर हाहाकार करने लगी, पर, दूसरे ही क्षण खड़ी हुई, और लपककर कूंड़े के पास पहुंची—ख़मीर उठ आया था। 'उफ़, भगवान! ..'—वह आटा गूंथने लगी, रोटी तो इंतज़ार नहीं कर सकती थी न! बाद में मैंने उसे देखा, मुंह एकदम दुबला, आंखें गढ़ों में धंसी, अनंत दुख-दर्द और धीरज की जीती-जागती तस्वीर। इन किसानों की ज़िंदगी के अपने अलग नियम हैं, निराले हैं..."

डॉक्टर उठा, कमरे में इधर-उधर टहलने लगा और कालीन पर फिर ठोकर मारी, हालांकि, इस समय कालीन का सिरा मुड़ा नहीं था। पादरी की पत्नी ने केनरी-चिड़िया के पिंजड़े को ढक दिया जिससे रोशनी से चिड़िया के सोने में बाधा न पड़े।

"हमारा किसान, हमारा खेतिहर अभेद्य अंधकार में रहता है, पर, इस पर भी उसका दिल मुलायम होता है," पादरी दिमीत्री ने अपनी बांह चढ़ाते हुए कहा, "एक मौक़ा मुझे भी पड़ा..."

गालीना जहां की तहां बैठी रही। उसने आंखें भी ऊपर नहीं उठाईं। उसकी भौहों की परछाईं मानो विनम्रता और लाज से उसके चेहरे पर पड़ रही थी। सहसा ही आंखों के सामने आ गये—मैले-कुचैले, भोंदू बच्चे, घुटन-गंदगी, कुत्ते की तरह दुम हिलाते लोग, निकीफ़ोर लुकीच—घने, बीहड़ वन जैसा। उसके मन में विरोध की सी भावना भी जागी—इस डॉक्टर में आत्मविश्वास के साथ इतनी अकड़ क्यों है? इसकी यह अकड़ तो निकालनी ही चाहिए।

"लोगों को दबा देना आसान है... उन्हें दोष देना आसान है," वह बोली। अच्छी तरह कह न पाने की असमर्थता के कारण उसका मुंह लाल हो गया, और क्योंकि जो कुछ वह कह रही थी वह उसके सोचने और देखने के भी विपरीत था। फिर भी बोलती गई, "लोग बड़ी कठिनाई में हैं... उनका जीवन बहुत कष्टमय है..."

दो गहराई तक भेदनेवाली आंखें आकर उस पर तिरछी टिक गईं—उसे लगा कि उन में नफ़रत भरी है।

"लोग। कौनसे लोग?.."

डॉक्टर एक कोने से दूसरे कोने तक दौड़ सी लगाने लगा, अपनी ही ठोकर से उल्टे हुए कालीन के कोने को पैर से सीधा करने लगा, और परदा उठाकर केनरी-चिड़िया के पिंजड़े में झांकने लगा। इसके बाद उसने गालीना के चेहरे पर नज़र जमा दी, और उसके पास ही पास आता गया, मानो उसे सम्मोहित कर रहा हो।

"आपके निकीफ़ोर लुकीच भी तो जनता और लोगों में शामिल हैं न? तेईस गांवों में आज मसूड़ों की बीमारी है, और उसकी जड़ हैं केवल वह। उन्होंने ख़ुद सब कुछ खा-डकार लिया है, और लोगों के पास चबाने को अपना चमड़ा भर रह गया है... लोग! हर खेतिहर... उफ़, बात करने से फ़ायदा भी क्या है!"

जैसे कि ख़ुद से लड़ते हुए, डॉक्टर ने अपने बाल ठीक किये, तो वे और भी अधिक खड़े हो गये। अब वह स्टोव के पास जा बैठा तो उसका एक तरफ़ का गाल ख़ून की तरह लाल नज़र आने लगा। उसकी

टूटी परछाईं पहले सोफ़े के आरपार पड़ी, फिर दीवार पर फैली, और फिर स्थिर हो गई।

"लोग!.. जनता!.. हर खेतिहर तब तक कोमल है, भला है, दयावान है, जब तक कि उसके गले में किसी का फंदा है, जब तक वह बेंच पर पड़ा है, दम तोड़ रहा है, और पास में बछड़ा उसके पेट के ऊपर की कमीज़ चबाये जा रहा है। पर, इन हालों से निकलते ही वह रस्सी अपने पड़ोसी के गले में डाल देता है। निकीफ़ोर लुकीच नीच से नीच और निर्दयी ख़ून चूसनेवाला है, वह जोंक है, जोंक। यह है हमारा खेतिहर—या तो कोई उसका ख़ून चूसता है, या वह ख़ुद किसी का ख़ून पीता है। आप सोच नहीं सकतीं कि इनमें से किसी के हाथ, किसी के पैर काट फेंक कर या पेट चीरकर मुझे कितनी ख़ुशी होती है—हर छः में से एक का पेट फटा होता है।"

"मेरे तीन लाल घोड़े चोरी गये," पादरी ने कहा और आदत के अनुसार अपनी चौड़ी आस्तीन ठीक की, "और, मज़ा यह कि फिर मैं देखता क्या हूं—वही मेरे यहां गोबर के अंबार में घुसा बैठा है..."

"नहीं, आपको सच्चाई की आंखों में देखना चाहिए, न अपनी आंख मूंदनी चाहिए, और न ही तकिये में मुंह छिपा लेना चाहिए," डॉक्टर ने बात काटी। उसकी आंखें चमक रही थीं। उसने पादरी की तरफ़ ध्यान नहीं दिया।

गालीना को अब भी वह दुश्मन ही लग रहा था। उसने आंखें ऊपर नहीं कीं: यह एक किसान का नहीं, हज़ारों किसानों का सवाल है।

सचमुच यही बात थी उसके दिमाग़ में भी। पर इसे कह नहीं सकी वह। इस पर भी विरोध करने की इच्छा उसके मन में बनी ही रही, और उसने जल्दी से तर्क याद करने की कोशिश की, जो उसने किसी किताब में पढ़ा था, और जिसमें 'लोग' शब्द सकल ग्राम्य-जीवन का द्योतक था।

उसने पहली कही बात फिर दोहराई:

"किसान को दोष देना बहुत आसान है, इससे अधिक आसान और कुछ नहीं है। पर, ज़रा एक निगाह देखिये तो कि वह रहता कैसे है, कितना दुख है!"

उसे लगा कि दुबारा वह कहना कुछ चाहती है, और कह कुछ रही है। इसीलिए वह चलने को उठ खड़ी हुई।

"गालीना, ज़रा जल्दी-जल्दी चक्कर लगा लिया करो, तुम तो भूल गईं हम सब को। यह रही तुम्हारी पत्रिका। इसे पढ़ने का समय ही नहीं मिला... ठीक है, फिर कभी पढ़ लूंगी। कोई नई पत्रिका आये तो ले आना।" पादरी की पत्नी ने कहा और कनखी से पादरी की ओर देखते हुए गालीना को चूम लिया।

अंधेरी सड़क पर गहरा कुहरा घिरा था। अंधेरे में खोये मकानों के ऊपर नीले शून्य में साफ़ झिलमिलाते तारे तैर रहे थे।

गालीना इस जाने-पहचाने रास्ते पर आगे बढ़ती गई, और बर्फ़ पैरों के नीचे चरमराती रही। गरम कमरे से निकलकर ठंड में जाने पर सारे शरीर में होनेवाली हल्की सी सुखद सिरहन को उसने दबा लिया।

बरसाती की सीढ़ियों पर उसने क्षण भर को सोचा। पाले और अंधकार को चीरता, डॉक्टर चला आ रहा है, और उसके पैर रह-रहकर लंबे और पुराने फ़र के कोट में अटक रहे हैं।

अंदर आकर, दरवाज़ा बंद कर वह अपने कमरे में आई। बिना लैंप जलाये उसने जल्दी-जल्दी कपड़े उतारे—उसका खदायी सुठंडा बिस्तरा उसे बुला जो रहा था। वह जानती थी कि वह कम्बल में घुसी नहीं कि बिस्तरा गरम हो जायेगा।

लगा जैसे कि सरदी कभी ख़त्म होने को ही न आयेगी। मकान उसी तरह बर्फ़ में गड़े, सफ़ेद टोपोंवाली बुढ़ियों से लग रहे थे, गांव के पार निःसीम बर्फ़; गांवों में स्लेज के गुज़रने से इधर-उधर बर्फ़ के टीलों के बीच सड़क पर बनी वही गहरी लीकें। बर्फ़ के ऊपर स्लेजों में बैठे लोगों के सिरों और कंधों के अतिरिक्त और कुछ दिखाई न पड़ता था। कुएं के चारों ओर का बर्फ़ का ढेर इस तरह ऊंचा हो गया था कि घोड़े चरही में पानी पीने आते तो उन्हें पानी तक पहुंचने के लिए घुटनों के बल झुकना पड़ता। बर्फ़ काट देने की बात किसानों ने सोची तक नहीं।

'बड़े-दिन' के पहले, पादरी की पत्नी के साथ गालीना स्लेज पर सवार होकर दूसरे गांव तक गई। गांव कोई पंद्रह वेर्स्ता की दूरी पर था, और वहां के स्कूल में बड़े-दिन की पार्टी का आयोजन किया गया था।

वहां उसने अपने सहयोगियों से यानी अध्यापक और अध्यापिकाओं से जान-पहचान की।

एक बार फिर हर चीज़ उसे बहुत ही साधारण लगी – उसकी कल्पना से बहुत फ़रक।

आम लोगों जैसे लोग – हंसी-मज़ाक़ करते, और आपस में प्यार-मोहब्बत करते। ग़रीबी के या दमन-अत्याचार के कोई चिन्ह तक नहीं दिखते थे। और न कहीं यह संकेत या इस बात का आभास कि लोग शिक्षा-दान जैसा बड़ा और ऊंचा काम करके अज्ञान के अंधकार में ज्ञान का प्रकाश पहुंचा रहे हैं।

रमणीय और रहस्यपूर्ण ढंग से मानव-जीवन पर छा जानेवाला वह रोमानी कुहरा भी नहीं था। दीवारें आंसुओं में तैर रही थीं और कहीं अपने अंदर उसे इससे खिन्नता हुई।

लोगों ने बातचीत शुरू की कि गोश्त मिलना मुश्किल हो गया है, दूध और महंगा हो गया है, आदि-आदि। इसके बाद उन्होंने इंस्पेक्टर, परीक्षा और स्कूल-बोर्ड की बात छेड़ी। अब अनुपस्थित सहयोगियों के बारे में झूठी-सच्ची गपशप चली। इस तरह सब कुछ इतना साधारण और घिसा-पिटा था और इसी कारण कुछ अनुचित-सा लगता था।

पादरी की पत्नी के साथ वापसी पर जब वह रास्ते में थी तो तीखी-चुभती सरदी से बचने के लिए अपने बांह के फटे फ़र में अपना मुंह ढक लिया। उसे संतुष्टि की अनुभूति हुई जैसे कि उसके अनुभवों में जीवन का एक और पहलू जुड़ गया हो।

यह याद करना भी उसे बड़ा अच्छा लगा – वह पादरी की पत्नी के साथ स्लेज पर सवार होने लगी तो सारे अध्यापक-अध्यापिकाएं और स्त्री-पुरुष पहुंचाने बाहर तक आये। इस पर उन दोनों ने चिल्लाकर कहा :

"जाइये, अंदर लौट जाइये, सरदी लग जायेगी!"

...आख़िरकार एक अधिकारी स्कूल में आया। यह घटना एक दिन, दोपहर के खाने के बाद घटी।

सुबह से अब मौसम कुछ गरम था। बर्फ़ का ढेर अब काफ़ी नीचे बैठ गया था। दूर का जंगल और क्षितिज का आकाश हल्का भूरा लगने लगा था। स्कूल ख़ाली था। दोपहर के खाने के बाद गालीना गांव की दूकान पर चली गई थी।

इवान फ़्योदोरोविच ने उसे देखते ही, सदा की तरह, सिर से टोपी उतार ली, और आदर से नमन कर हालात कहने शुरू किये :

"तो, हालत यह है... मेरी पत्नी इधर बीमार पड़ गई है। आप तो ख़ुद जानती हैं कि वह बादी से फूलकर चकला होती जा रही थी। सबसे अच्छा इलाज यही था कि ख़ून निकाला जाये। यही किया भी गया। उन्होंने उसका ख़ून खींचा और उसके साथ बड़ी बदबू आई। वह बोरे की तरह जो धप से बैठी, तो फिर उठी ही नहीं।"

अचानक उसने अपना सिर एक ओर करके आहट ली :

"स्लेज आ रही है, घंटीवाली... नहीं, यह पुलिस-इंस्पेक्टर की स्लेज नहीं है! उसकी घंटी तो और ज़ोर से बजती है – टिरन-टिरन-टन-टन... यह आवाज़ तो छोटी घंटी की मालूम होती है। पुलिस-सार्जेंट भी नहीं लगता। बीमा का आदमी भी नहीं है यह, उसकी स्लेज में तो साज़वाली घंटियां हैं... कोई आपके पास तो नहीं आ रहा है? सुनिये, काना लड़कों को भगा रहा है। हो न हो, इंस्पेक्टर है। वह बड़ा हंगामा करेगा, अपने को बहुत बड़ा समझता है।"

गालीना सड़क पर आई। वासीली नंगे सिर, शाम के धुंधलके में खो गये घरों की पांत के साथ-साथ दौड़ रहा था, और अपने बेंत से खिड़कियां खड़खड़ाता चिल्लाता जा रहा था :

"बच्चों को स्कूल भेजिये, इंस्पेक्टर साहब आये हैं।"

वह झपटता गालीना के पास आया।

"इंस्पेक्टर साहब आये हैं, आपसे मिलना चाहते हैं।"

स्कूल के पास तीन घोड़ोंवाली दरी लगी, एक बड़ी स्लेज खड़ी थी। स्लेज और साज़ की घंटियां अभी तक धीमे-धीमे टुनटुना रही थीं।

स्कूल के कमरे में बत्ती नहीं जलाई गई थी। वैसे वहां थोड़ा-बहुत उजाला अभी था, और उस हल्के उजाले में एक आदमी खड़ा था – नाटा-छोटा, गोल-मटोल। उसके बदन पर भेड़िये की खाल का कोट था, सिर पर झबरी टोपी थी, और पैर में गरम जूते। वह रह-रहकर अशिष्टतापूर्वक अध्यापक-कक्ष के दरवाज़े पर नाक अड़ाकर झांकता, फिर हर क्षण मुड़कर पीछे की ओर देखता और चिल्लाता :

"कैसी बदतमीज़ी की बात है! यह भी कोई तरीक़ा है! इसके मानी क्या हैं?"

शाम के हल्के प्रकाश में फ़र कोट और टोप पहने गालीना को देखते ही इंस्पेक्टर उसकी ओर घूम पड़ा :

"तो, आप इंतज़ार करा रही हैं मुझे ! .."

"मुझे पहले से कोई सूचना नहीं थी।"

"आप चाहती हैं कि एक प्रतिनिधि-मंडल भेजा करूं आपके पास ? .. और, जहां तक स्कूल का सवाल है, सब कुछ सामने है, और पूरी तरह चौपट है... तो, आप इस तरह ओवरकोट पहने-पहने मुझसे मिलेंगी ? .."

गालीना के गले में जैसे कुछ अटक गया। वह बाहर कपड़े उतारने के लिए चली। लड़के क्लास में भर आये, और सहमी हुई नज़रों से इधर-उधर देखकर अपनी-अपनी जगह बैठ गये। वासीली ने लैम्प जलाया। गालीना आख़िरी डेस्क के पास खड़ी हो गई, और अपने को संभाल में रखने की कोशिश करने लगी।

छोटा, गोल-मटोल वह आदमी अब भी कमरे में इधर से उधर लुढ़कता रहा। उसका ओवरकोट ज़मीन पर लथेड़ता रहा। उसने एक बार भी गालीना की ओर नहीं देखा।

"प्रार्थना ! "

लड़के पैरों को पटकते और इधर-उधर करके ठीक रखते, अंधेरे कोने में अदृश्य देव-प्रतिमा की ओर मुंह कर खड़े हो गये। इंस्पेक्टर ने सलीब की तरह मुड़ी तीन उंगलियों को अपने माथे पर रखा और इंतज़ार करने लगा।

"मारफ़ूशा, प्रार्थना सुनाओ," गले में अटके डले को दबाते हुए गालीना ने कहा।

"उसका कुल-नाम लेकर बुलाइये ! .." इंस्पेक्टर तीखी आवाज़ में चिल्लाया, फिर उंगलियां माथे पर टिकाये, सिर ज़रा आगे को झुकाकर प्रतीक्षा करने लगा।

क्षण भर को गालीना के पैरों के नीचे से ज़मीन खिसक गई, पर चेष्टा कर उसे याद आ गया :

"बलांदिना, प्रार्थना सुनाओ।"

छोटी लड़की ने अपनी नीली आंखें अंधेरे कोने की ओर उठाईं, इंस्पेक्टर की तरह हाथ माथे पर लगाया और पतली आवाज़ में आरंभ किया :

"परम-पावन..."

अचानक ही उसने सिर घुमाया, और हाथ के नीचे से अध्यापिका की ओर देखते हुए कहा:

"प्रार्थना तो हम कर चुके हैं सवेरे।"

"फिर से सुना दो!.."

इंस्पेक्टर कमरे में इधर-उधर लुढ़क रहा था और क्रोध से उबल रहा था:

"स्कूली अनुशासन क्या होता है, यह भी आप जानती हैं या नहीं? या यह सब केवल कोरे शब्द हैं आपके लिए?"

> "परम प्रभु परमेश्वर,
> बरसाओ धरती पर
> आशिष मंगलमय
> पुनीत पावनमय।"

इंस्पेक्टर ने क्रोध से आग-बबूला होते हुए क्रॉस बनाया, और बच्चों की ओर देखा। बच्चों ने भी बड़े ज़ोर-शोर से क्रॉस बनाये।

प्रार्थना समाप्त हुई तो इंस्पेक्टर ने सवाल पूछने शुरू किये:

"ए, आख़िर में बैठे लड़के, खड़े हो जाओ! बतलाओ—सात सेब लो, उनमें तीन जोड़ो, फिर चार निकाल लो, और फिर बराबर-बराबर तीन लड़कों में बांट दो। बतलाओ, हर एक के हिस्से में कितने-कितने सेब आये?"

लड़का मुंह बाये, आंखें फाड़े इंस्पेक्टर की ओर घूरता रहा।

"अच्छा, बताओ, खमोश क्यों हो? अपने हाथ दिखलाओ।"

लड़का उसका मतलब बिलकुल नहीं समझा, पर उसने अपने हाथ फैला दिये, जिससे उनके बेहद गंदे नाख़ून भी सामने आ गये।

"इन्हें हाथ कहते हो तुम? ये तो नखदार पंजे हैं!.. अच्छा, तुम, तुम और तुम दिखलाओ अपने-अपने हाथ... ये भी वैसे ही हैं, जानवरों के पंजे, हाथ नहीं। फ़ौरन कटवाओ अपने नाख़ून! जाओ, जाओ अपने घर, भागो!"

बच्चों ने कुछ भी नहीं समझा कि यह सब क्या हो रहा है, क्यों हो रहा है? उन्होंने अपने कंधे झटके, और ख़रगोशों की तरह इंस्पेक्टर

की ग्रोर मुड़-मुड़कर देखते, एक-दूसरे को ढकेलते, गिरते-पड़ते क्लास से बाहर निकलकर, ग्रौर सड़क पर ग्राकर ग्रपने-ग्रपने घरों की ग्रोर दौड़ गये।

इंस्पेक्टर क्लास में इधर-उधर फिर लुढ़का ग्रौर जड़ हुई खड़ी गालीना के ठीक सामने ग्राकर रुक गया।

"मैं ग्रापसे यह कहना चाहता हूं कि..." ग्रौर, ग्रचानक ही रुक गया।

इस समय तक उसने ग्रध्यापिका के चेहरे की ग्रोर नहीं देखा था। उसने केवल यह ग्रनुभव किया था कि कोई जड़ स्थिर सी मौन ग्राकृति पास में है। पर, ग्रब उसने उसकी ग्रांखों में देखा... ये ग्रांखें घनी, झुकी हुई पलकों के पीछे छिपी हुई थीं, ये ग्रांखें गीली थीं, ग्रौर दमक रही थीं—शायद ग्रावेश से, शायद ग्रपमान ग्रौर संताप की भावना से। उसके गाल यौवन की लालिमा से जल रहे थे।

"बैठ जाइये, कृपा कर... जब बच्चे यहां थे, तब तक तो ग्राप बेशक नहीं बैठ सकती थीं, ग्रनुशासन तो होना ही चाहिए... ग्ररे, कोई है क्या?"—इंस्पेक्टर ने ग्रपना भारी-भरकम कोट उतारने की कोशिश की।—"जमादार!"

"वासीली!"—गालीना ने जमादार को ग्रावाज़ दी।—"मदद दो, ग्राप कोट उतारना चाहते हैं..."

वासीली ने बड़े ग्रटपटेपन से कोट खींच लिया। पर इंस्पेक्टर सारा काम फ़ुर्ती से करने की कोशिश में बरसाती जूते उतारने के लिए झुका, तो बड़ी मुश्किल से ग्रपनी भारी तोंद को ग्रागे झुका पाया।

कोट उतरने पर वह ग्रौर भी गोल-मटोल लगने लगा—उसकी दाढ़ी बहुत साफ़ ग्रौर चिकनी बनी हुई थी, पर इस पर भी ठोड़ी पर बची तीन सफ़ेद बालों की खूंटियां थीं। वह बराबर ग्रपने हाथ मल रहा था।

"बड़ा ही गया-बीता काम है मेरा... मैं थक गया हूं, ग्राप समझती हैं, थककर चूर हो गया हूं। बड़ा लंबा सफ़र तय किया है, सरदी से ठिठुर रहा हूं... ग़नीमत यही है कि ग्राज उतनी ठंड नहीं है... ग्रब मुझे यहां से ग्रागे जाना चाहिए, जी हां, ग्रागे, वरना दौरा पूरा नहीं हो पायेगा। हर जगह लापरवाही है... ग्राप विश्वास नहीं करेंगी—ये स्कूल नहीं हैं, भगवान ही जानता है कि क्या हैं। ग्रापके बच्चे ग्रच्छा

प्रभाव डालते हैं, चेहरे से समझदार मालूम होते हैं, यानी, दूसरे शब्दों में यहां के बच्चे दूसरे स्कूलों के बच्चों से बिलकुल अलग हैं..."

उसने हाथ मले, वह एक डेस्क पर बैठ गया, पर दूसरे ही क्षण उठकर खड़ा हो गया।

"हे भगवान, यह आदमी आख़िर चाहता क्या है?"—वह हैरान थी।

"यक़ीन कीजिये, सुबह से अब तक चाय पीने तक की सांस नहीं मिली है... यहां से वहां दौड़, वहां से यहां दौड़।"

"आप इस समय चाय पियेंगे?"—गालीना ने पूछा। अपनी परेशानी के कारण वह कोई निश्चय स्वयं नहीं कर सकी।

"अगर आपको कोई ख़ास परेशानी न हो... अगर कोई तकलीफ़ न हो आपको... आपको परेशान करते मुझे हिचक लग रही है... अंदर आ सकता हूं, क्या?"

इंस्पेक्टर गालीना के कमरे में चला गया। गालीना ने वासीली को आवाज़ दी, और कहा:

"वासीली, कृपा कर समोवार जलाकर यहां ले आओ। और, देखो, उसके बाद यहां से कहीं चले न जाना, दरवाज़े के पास ही बैठे रहना। मेहरबानी करके कहीं नहीं जाना यहां से, समझे..."

इंस्पेक्टर ने चीड़ की दीवार पर जहां-तहां गड़े पोस्टकार्डों पर एक नज़र डाली, और साफ़-सुथरे बिस्तरे, किताबों और पत्रिकाओं पर निगाह दौड़ाई। वातावरण ऐसा था कि चित्त सहज ही शांत हो उठे, और प्रसन्न हो जाये।

छोटा, हरा पड़ा समोवार उबलने लगा। बीच-बीच में वह बारीक, उदास सुर में गुनगुना देता था।

इंस्पेक्टर बराबर बोलता रहा। उसने गालीना को शहर के सारे समाचार दिये, डायरेक्टर को गालियां दीं और थियेटरों की चर्चा चलाई।

"हमारा काम बहुत ही सड़ियल है, अगर साफ़-साफ़ सीधी तरह कहा जाये, तो यूं कहें—ऐसी नौकरी है जिससे किसी को लाभ नहीं। मैं बहुत अच्छी तरह जानता हूं कि आप सब हमें गालियां देते हैं, और हमें आप देख नहीं सकते। आपकी जगह मैं होता तो मैं भी यही करता... पहले मैं भी सेकेंड्री स्कूल में मास्टर था, पर प्रिंसिपल से मेरी बनी नहीं

ग्रौर, सो भी केवल विद्यार्थियों के कारण: ग्रधिकारियों का कहना था कि मैं उनके साथ बहुत मुलायमियत बरतता हूं... नतीजा यह हुग्रा कि मुझे इस्तीफ़ा देना पड़ा। ग्रौर, इस समय... इस समय मुझे लगता है कि मेरा यह काम भी बहुत गंदा है। मैं हर एक पर कुत्ते की तरह टूट पड़ता हूं, भूंकता हूं ग्रौर काटने को दौड़ता हूं। ग्रगर मैं ऐसा न करूं, तो ग्रधिकारी मेरे साथ यही करेंगे। कोई रास्ता नहीं है। फिर, इससे किसी की कोई भलाई भी तो नहीं होती।"

"कहीं इसका दिमाग़ तो नहीं ख़राब हो गया?" — गालीना ने मन ही मन सोचा।

गालीना कई बार देखने के लिए बाहर गई कि वासीली बैठा हुग्रा है कि नहीं। वह सिर नीचे झुकाकर बेंच पर ऊंघ रहा था। लौटी, तो ग्रध-खुले दरवाज़े से ग्रंदर झांककर उसने देख लिया: इंस्पेक्टर उसके छोटे शीशे के सामने खड़ा थोड़े से बालों की एक लट कान के पीछे से उठाकर ग्रपनी गंजी खोपड़ी पर जमा रहा था।

रात का ग्रंधियारा खिड़की से दूर-दूर तक दिखाई दे रहा था। थके हुए घोड़े हिलते थे तो साज़ की घंटियां हल्के से टुनटुना उठती थीं।

"मैं, ख़ैर, पता नहीं कैसे शुरू करूं, मैंने ग्रभी तक विवाह नहीं किया है... ग्रौर, जैसी कहावत है बिन घरनी घर भूत का डेरा होता है। ग्रौर फिर, ग्रादमी जीता है, काम करता है, पर उसके बाद फिर? इस सब का क्या फ़ायदा?"

गालीना ने शांत भाव से उसकी ग्रोर, उसके गोल सिर की ग्रोर देखा तो उसकी नाक उसे बटन सी लगी। ग्रचानक ही उसे लगा कि वह ख़ुद इंस्पेक्टर है, ग्रौर इंस्पेक्टर ग्रध्यापक है। इस पर मन हंसने का हुग्रा तो उसने ग्रपने को रोक लिया ग्रौर उसे ग्रौर चाय देने लगी।

लगभग बारह बजे रात में इंस्पेक्टर ने जाने की तैयारी की। ग्रंधेरी खिड़की के बाहर साज की घंटियां टुनटुनाई ग्रौर स्लेज की घंटी घनघनाई, धीरे-धीरे ये ग्रावाजें हल्की होते-होते सन्नाटे में डूब गईं।

गालीना एक क्षण तक तो स्थिर खड़ी रही, फिर उसने ग्राईना उठाया ग्रौर देखा — झुकी-झुकी नज़रों, ग्रौर ग्रभिमान से सीधी नाकवाले प्यारे चेहरे ने उसे देखा। वह मुस्कराई, तो दर्पण में हंसता हुग्रा, गालों में गढ़ेवाला चेहरा दिखा।

"बेवकूफ़ कहीं का!"

उसने शीशा जगह पर टांग दिया।

वह जल्दी से जल्दी सोना चाहती थी, पर आंखों के आगे दृश्य आ रहा था, स्लेज पर सवार, निःसीम फैली बर्फ़ पर जाते हुए बेचैन इंस्पेक्टर, दुनिया में जिनकी किसी को ज़रूरत नहीं है। और, इसके बाद कुछ और सोचना-समझना आवश्यक हो गया।

उसने कंबल ठोड़ी तक खींच लिया।

"बेवकूफ़!"

और किसी ने पूछा:

"ख़ुशी दुनिया में क्या सिर्फ़ तुम्हारे लिये ही है?"

"लेकिन मैं मैं हूं, और वह..."

वह चैन की नींद में डूब गई।

दूसरे दिन सुबह गालीना बहुत देर तक बच्चों को शांत न कर सकी। वे भीड़ लगाये खड़े रहे, एक-दूसरे की बात काटते, इंस्पेक्टर के बारे में, उसके भेड़िये की खाल के कोट के बारे में, झबरी टोपी के बारे में और बड़े-बड़े जूतों के बारे में बातें करते रहे।

"गालीना अलेक्सांद्रोव्ना, हमें नाख़ून काटने को कैंची दीजिये।"

आधे पाठ के समय तक वे एक-दूसरे के नाख़ून काटते रहे, चीख़ते-चिल्लाते और हंसते रहे। किसी का नाख़ून गहरा कट गया तो ख़ून निकल आया। अंत में मैल से भरे कटे नाख़ूनों के छोटे-छोटे टुकड़े डेस्कों पर इस तरह जमा हो गये, जैसे कि सूरजमुखी के बीजों का भूसा।

"कल वाले सवाल का जवाब कौन देगा?"

"मैं दे सकता हूं, मैं दे सकता हूं!.."

सब के सब उछल पड़े।

गालीना ने अच्छी तरह साफ़-साफ़ शब्दों में फिर से सवाल दोहराया। उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने देखा कि बच्चे आंखें फाड़े, बड़े ही ध्यान से सारी बात सुन रहे हैं।

"ये लड़के-लड़कियां तो बिलकुल नये हैं..."—उसने मन में सोचा।—"यह कब हुआ?"

"हां तो?"

"तीन।"

"दो, दो, दो! .."—अपने हाथ ऊपर उठाते हुए सब चिल्ला पड़े।

"ठीक, दो-दो सेब आये हर एक के हिस्से में।"

गालीना को लगा कि वह बच्चों के और पास आ गई है। उसने कहा :

"अब मैं तुम्हें पढ़कर सुनाऊंगी।"

बच्चे ख़ुशी से खिल गये, और सबसे पास के डेस्कों पर, एक-दूसरे के ऊपर चढ़ते हुए, उसके चारों ओर जमा हो गये।

आज पहली बार उसे बच्चों को पढ़कर सुनाते ख़ुशी हो रही थी। उसने बच्चों पर एक सरसरी नज़र फेंकी, तो पाया कि पचास जोड़ी आंखें एकाग्र होकर उस पर लगी हुई हैं।

"और, उसके सामने कैसे बुद्धू बने बैठे थे।"

कुछ दिनों के बाद, बिना किसी ख़बर के, इंस्पेक्टर फिर आ पहुंचा। वह बड़ा परेशान-परेशान सा लगा। वह दिन में आया था, और माफ़ी मांगने लगा कि इसी रास्ते से लौट रहा था, तो यहां आ गया। उसने पाठ में पूरा एक घंटा बिताया, और बच्चों से बड़े ही स्नेह से तरह-तरह के सवाल किये।

गालीना ने मुस्कान छिपाये, बड़े शांत मन से पाठ पढ़ाया।

"ऐसे लोगों से अधिक से अधिक फ़ायदा उठाना चाहिए।"

उसने इंस्पेक्टर से विश्वास के साथ बातें कीं, और स्कूल के पुस्तकालय के लिए रक़म मांगी। इंस्पेक्टर ने पहले तो ज़रा आनाकानी की, पर फिर उसकी व्यवस्था कर देने का वायदा कर दिया। उसने कहा कि मैं डाइरेक्टर से बात करूंगा, और इसके साथ ही स्कूल के ट्रस्टी निकीफ़ोर लुकीच से भी।

गालीना ने उसे रूखा सा धन्यवाद दिया।

गांव में समय इतना धीरे-धीरे कटता है, जैसे एकांत कारागार का दंड पाये व्यक्ति का। वह ज़रा मुड़कर देखे तो पता चलता है कि महीने के महीने और साल के साल पीछे छूट गये हैं।

आख़िरकार जाड़ा उतार पर आया। मकानों की छतों पर जिस तरफ़ धूप पड़ी, उस तरफ़ की बर्फ़ गलकर बूंद-बूंद टपकने लगी। बर्फ़

पर पड़नेवाली परछाइयां गहरी नीली हो गईं। सूरज मकानों के पीछे के कोने से उगने लगा, और यह कोना हर दिन गिरजे की ओर बढ़ता गया। गरमी में तो सूरज गिरजे की दूसरी तरफ़ से निकलता है।

गालीना के दिन ऐसे ही बीतते गये: वही बच्चे, वही औरतें, वही थकान से उतरे हुए चेहरे, वही बीमारियां, और वही दुख-दर्द; वही मर्द जो तरह-तरह के कामों से आते थे; वही बर्फ़ से ढकी सड़क और बर्फ़ के टीले के बीच गांव का वही कुआं।

और दूर, कहीं बहुत दूर अस्पष्ट झलकता शहर, थियेटर, 'हुकुम की बेगम' ऑपेरा और युवक-युवतियां – सब कुछ, जिनके बिना कभी लगता था, जीवन जीने लायक़ नहीं होगा, वह सब कुछ अब कहीं दूर में खो गया था और केवल याद बनकर रह गया था।

डॉक्टर आया, तो पादरी के यहां से गालीना को बुलाने गाश्का आई:

"वह तिरछी आंखों वाला काला आदमी फिर आया है।"

गाश्का हंसी से लोटपोट हुई जा रही थी कि सहसा ही गंभीर हो उठी। फिर, जानवरों सी ठोड़ी उठाकर और विस्मय से आंखें फैलाकर बोली:

"मेरा भी एक प्रेमी है।"

"तो, तुम उससे ब्याह क्यों नहीं कर लेतीं?"

"वह दहेज चाहता है – भेड़ की खाल का कोट, दो कंबल, और दो तकिये – और, मां-बाप मुझे इतना तो देंगे नहीं।"

"क्यों नहीं देंगे?"

"क्योंकि बिसात के बाहर है।"

"तो, अपनी तनख़्वाह से कुछ बचाकर दहेज बना लो।"

"वह तो मां-बाप ले लेते हैं।"

"पर, तुम उन्हें देती क्यों हो?"

"देना पड़ता है – ज़मीन का लगान अदा करने में वे टका-टका निकीफ़ोर लुकीच को दे देते हैं।"

लड़की खड़ी थी – कभी एक पैर पर, और कभी दूसरे पर, जैसे कुछ याद करने की कोशिश कर रही हो।

"पादरी और पादरी की बीवी हमेशा उसके पीछे लगे रहते हैं।"

"किसके पीछे ?"

"मेरे प्रेमी के।"

"कैसे ?"

"बेंत लेकर। वह आता है तो मालकिन ज़ोर-ज़ोर से चीख़ने लगती हैं, पादरी दिमीत्री बेंत उठाकर उसके पीछे दौड़ने लगते हैं। वह बाड़ा फांदकर उस पार कूद जाता है, और मैं गोशाला में छिप जाती हूं।"

उसने अपनी निकली हुई बड़ी-बड़ी आंखें गालीना पर गड़ाईं और फिर ठहाके लगाने लगी। उसकी आंखें चमक रही थीं, और चेहरा लाल हो गया था।

"तो जल्दी से वहां पहुंचें, है न? वे लोग राह देख रहे होंगे।"

पर, वह गई नहीं, सोचा; "वह डॉक्टर अपने को बहुत समझता है..."

उस दिन सारी शाम उसने एक अक्षर भी नहीं पढ़ा। वह बड़ी खिन्न थी। कुछ करने को उसका मन ही नहीं हुआ। उसने आईना उठाया और देखा तो ग़ुस्से से भरा चेहरा उसकी ओर देख रहा था।

कितनी ही देर तक उसे नींद नहीं आई। ख़ामोश खिड़की अंधेरी दिख रही थी, उसकी वह ख़ामोशी अकेलेपन की, समर्पण की, और भविष्य की उदासी में डूबे नीरस दिनों की कहानी कह रही थी।

उसने लैंप बुझाया, और, बिना कपड़े उतारे, बिस्तर पर लेटकर, ज़बरदस्ती आंखें बंद कर सोने की कोशिश करने लगी। पर, आंखों ने जैसे ज़िद ठान ली। जब वह आंखें खोलती तो काली खिड़की उसे फिर ज्यों की त्यों उदासी से अपनी ओर घूरती नज़र आती। पाला खिड़की पर पिघल रहा था। सवाल उठता :

आख़िर आगे जीवन में क्या होगा ?

गालीना को लगता—अधिक से अधिक किसी स्कूल-मास्टर से शादी हो जायेगी, उदाहरण के लिए—काले बालोंवाले... उस लंबे मास्टर से, दूसरों के साथ वह भी विदा देने आया था... 'बड़े-दिन' की पार्टी के समय... और, फिर?.. पांच बच्चे... चीख़ते-चिल्लाते... पांचों के पांचों एक साथ... उनके मुंहों पर तकिये होंगे... एक छोटा सा तकिया...

वह सिसकने लगी। उसने तकिये में अपना मुंह छिपा लिया। उमड़ते हुए खारे आंसुओं से तकिया तर हो गया।

...उनके मुंहों पर तकिया रखा दिया जायेगा... और फिर... फिर क्या होगा? विधवा, सात बच्चे, ख़ुद हड्डी का ढांचा, कुरूप...

"उफ़, हे भगवान, मेरे भगवान! .."—आंसुओं का बांध रोकने की चेष्टा करते हुए वह हताश होकर दुहराने लगी।

यह क्रम बहुत देर तक चलता रहा। इसके बाद ही दीवार के दूसरी तरफ़ से लकड़ी के भारी पहियों की खड़खड़ाहट और चक्की के पाटों की घड़घड़ाहट की आवाज़ें आने लगीं। वासीली बोल रहा था, "चक्की चालू हो गई है... इसमें सब कुछ पिस जायेगा, सब कुछ..." वासीली ने आंखें चढ़ाईं और भीषण स्वर से चीख़ा, "ए बच्चो, उठाओ छत!"

गालीना बिस्तरे से उछलकर खड़ी हो गई। तेज़ प्रकाश खिड़की में से छनकर आ रहा था। सूरज गिरजे के पीछे से ऊपर चमक रहा था।

"हे भगवान, यह तो दिन निकल आया! .."

दीवार की दूसरी ओर से बच्चों के इधर-उधर दौड़ने का शोर आने लगा। वासीली ने दरवाज़ा खटखटाया, "उठिये, वक़्त हो गया, बच्चे आ गये..."

गालीना ने बर्फ़ से ठंडे पानी के छींटे मुंह पर मारे, बाल संवारे और क्लास में आ गई। पूरा कमरा धूप में नहा रहा था। खिड़की के बाहर पिघलती हुई बर्फ़ असह्य प्रकाश से चमक रही थी।

हर बच्चे ने अपने-अपने ढंग से अभिवादन किया, और प्रसन्नता से अपने हाथ हिलाये।

"बच्चो, अपनी-अपनी जगह बैठो।"

उन्होंने प्रार्थना की। किताबों और कॉपियों के पन्नों की सरसराहट हुई।

फिर वही पुरानी कहानी शुरू हुई—सात में तीन जोड़ो, नौ में से दो घटाओ, तीन को तीन से गुणा करो, जोड़ क्या है, घटाना क्या है?—हर चीज़ शिक्षक के लिए घिसी-पिटी और जानी-पहचानी, पर बच्चों के लिए वही बिलकुल नई अनजानी और कठिन। समझने की कोशिश में बच्चे आंखें फाड़े बैठे रहते हैं।

कहीं से आवाज़ आती है:

"तुम्हें यह नीरस लगता है?"

"मुझे मालूम नहीं... मेरे पास समय नहीं है..."

"याद है, तुम स्कूल की पढ़ाई समाप्त करने को कितनी उतावली थीं! तुम्हें लगता था कि पांचवां, छठा, सातवां, और फिर आठवां फ़ार्म ख़त्म हुआ कि सब कुछ बदल जायेगा। ज़िंदगी सुख और संतोष से निहाल और आज़ाद, तुम जैसे कि ड्योढ़ी लांघ रही थीं... सो, तुमने स्कूल छोड़ा, और तुम आ गईं यहां। यहां हैं, भरी-गंदी नाकवाले बच्चे, बदबूदार भेड़ की खाल के कोट, गीले-भीगे जूते, सरदी की ठिठुरनें, कोयले की गैस, चारों ओर की भीड़, पेट के दर्द से निढाल औरतें, सरदी के उदास दिन, बहुत ही लंबी रातों में सोया हुआ ख़ामोशा गांव... इतना ख़ामोश कि कुत्ते भी नहीं भूंकते... कुछ याद है तुम्हें?.."

"हां, मुझे याद है।"

पाठ खिंचता जाता है, फिर आधी छुट्टी, फिर पाठ। हवा भारी हो जाती है, थकान से बोझिल, चेहरे काठ से हो जाते हैं, आंखें सूनी हो जाती हैं; बच्चे वैसे ही बुद्धू और भोंदू लगने लगते हैं, जिन्होंने पहले दिन उसे चकरा दिया था।

इस बीच गठीली चोंचवाले बूढ़े हंस की आवाज़ रह-रहकर खिड़की से अंदर आ रही थी। वह अपनी गरदन उठाये मानो सूरज को, गर्म हवा को, नीले आसमान को और चमचमाते देहाती इलाक़े को पुकार रहा था।

एक बच्चा उस समय सवाल का जवाब दे रहा था कि किसी तीख़ी तेज़ आवाज़ ने बीच में बाधा दी:

"यह दोरमिदोंतोव का हंस चीख़ा है।"

दूसरे ही क्षण क्लास में जान सी पड़ गई—स्फूर्ति छा गई।

"नहीं, हंस दोरमिदोंतोव का नहीं, कोज़लिख़ा दादी का है।"

"नहीं, नहीं, यह तो बूढ़े येरिक तुल्पान का है।"

"झूठा कहीं का, वैसे ही है..."

"तेरा दिमाग़ चरने चला गया है..."

"तुल्पान का हंस तो ऐसा है..."

लड़के ने अपना पेट भीतर को सिकोड़ा तो सूती कमीज़ भी साथ ही दब गई और पसलियां उभर आईं। अब उसने हंस की तरह मुंह

बनाया, और उसी तरह किकियाने लगा। बाहर के हंसों ने आवाज़ का जवाब दिया।

क्लास में ऐसा शोर मचा कि बताया नहीं जा सकता। कुछ बच्चे हाथ-पैरों से डेस्कों पर चढ़ गये और क़लमें, पेंसिलें, किताबें सारी की सारी चीज़ें भड़भड़ाकर नीचे गिरने लगीं। दूसरे उनके पैर पकड़-पकड़कर उन्हें नीचे खींचने लगे। कुछ खिड़कियों के दासों पर चढ़ गये, और चिड़ियों की तरह आवाज़ें करने लगे। उनके कपड़े और लिबास तरह-तरह के थे। कुछ ने सूती पतलून पहने हुए थे, कुछ ने अपने पिताओं के घुटने तक के जूते पहने थे, तो कुछ ने चटाई के जूते। लड़कियों के बदन पर छोटे, भद्दे, शहर के बने बेढंगे ब्लाउज़ थे, और बालों की चोटियों में रंग-बिरंगी चीरें गुंथी हुई थीं।

एक दूसरे से बिलकुल भिन्न होने पर भी, सबके चेहरों पर एक सा भाव था। प्रायः सब की नाकें उभरी हुई थीं और उनके बेधुले, घने बाल उल्टे-सीधे कटे हुए थे—बहुतों की आंखें नीली थीं।

कुछ बच्चे इस सारे हंगामे में भी चुपचाप, बिलकुल गुमसुम मुंह बाये बैठे रहे। देख कर भी कुछ न देखती आंखों के सामने शून्य बिंदु को घूरते वे बड़े मूर्ख लग रहे थे।

गालीना खड़ी-खड़ी मुस्करा रही थी—अपने सात बच्चों वाली विधवा हो जाने की बात याद कर उसे बड़ा मजा आया।

वह अब भी मुस्कराती, सारा शोरगुल देखती रही—काफ़ी देर से चल रहा था सब कुछ।

"बस, बच्चो, बस!"

अगर एक बार आग संभाल से बाहर हो जाये तो फिर बुझाना मुश्किल हो जाता है। और बच्चे एक बार हाथ से निकले कि फिर उनको आज्ञा में लाना मुश्किल हो जाता है। मनमानी करने का भूत इस तरह भीड़ के सिर पर सवार हो जाये तो स्कूल से निकल भागने में ही भला है।

"बस, हो गया, मैंने कहा!"

उसकी आवाज़ चीख़-पुकार और चिल्ल-पों में खो गई। उसकी कमान सी पतली भौहें तनीं, और उनमें सिलवट सी पड़ी। उसने पास बैठे लड़के के हाथ से फ़ुटा लिया और तेज़ी से डेस्क पर पटपटाने लगी।

"ख़ामोश!"

पर, असर इसका भी कुछ न हुआ। केवल पास बैठे बच्चों ने एक-दूसरे के बाल खींचना और एक-दूसरे की पीठ पर चढ़ना बंद कर दिया।

आख़िरकार गालीना ने शोरगुल पर क़ाबू पाकर तेज़ आवाज़ में पूछा :

"तुममें से किसी ने जंगली हंस देखा है कभी?"

धीमा पड़ता शोर दबे पैरों कमरे के बाहर सरक गया। खिड़की के दासों और डेस्कों के नीचे से पसीने से तर, छोटे-छोटे जानवर निकलकर बाहर आने लगे। उनकी आंखें उत्सुकता से चमक रही थीं। एक-दूसरे को ढकेलते और हटाते वे अपनी-अपनी जगह पर बैठ गये और आपस में फुसफुसाने लगे। इसके बाद फिर शांति छा गई, और बच्चे बड़ी उत्सुकता से उसका गोरे गुलाबी गालोंवाला चेहरा देखने लगे—भौंहों में सलवट थी।

"तुम में से किसी ने जंगली हंस देखा है?"

एक लड़की ने अपना ज़र्द हाथ उठाया, कभी फुदककर उठती, कभी बैठ जाती—हाथ झटक-झटककर मास्टरनी का ध्यान अपनी ओर खींचने की पूरी कोशिश करने लगी। उसका चेहरा पीला था—उसके परिवार में गरमी की बीमारी थी।

"तुम बतलाओ, फ़ेन्या।"

लड़की हकलाते हुए और अपनी आधी झड़ी सफ़ेद भौंहों पर ज़ोर देते हुए बोली :

"फ़-फ़-फ़े-फ़ेद-फ़ेदूल चाचा का हंस पा-पा-पा-पागल हो गया था और जंगली हो-ओ-हो-हो गया था।"

"और, फिर लोगों ने उसे मार डाला!.."—बाक़ी बच्चों ने एक स्वर में कहा।

"लेकिन, इससे क्या मतलब, यह तो एक दूसरी बात है।"

उसने बच्चों को क़ाबू कर लिया था। उनकी आंखें फिर चमकने लगीं, और उनके चेहरों पर लाली दौड़ गई। फिर वही पुरानी कहानी चली—पंद्रह में सात जोड़ो, अट्ठाईस में से नौ घटाओ, बतलाओ, जोड़ क्या हुआ, बाक़ी क्या बचा? होते-होते ऐसा लगने लगा कि स्कूल के कमरे की दीवारें तक पूरे ध्यान से बातें सुनने लगी थीं।

...वसंत का यह पहला दिन था। बर्फ़ के टपकते लच्छे सब जगह छतों से नीचे लटके ग्रौर धूप में जगमग-जगमग कर रहे थे। उनसे साफ़ पानी की निर्मल चमचमाती बूंदें ग्रांसुग्रों की तरह टपक रही थीं – टप-टप-टप। सड़क पर लीक काली हो गई। मकानों के ऊपर जमी एक ग्रोर से नीली नज़र ग्राती बर्फ़ नीले, निर्मल ग्रासमान की ग्राड़ में बहुत ही सुंदर लग रही थी।

गाश्का हंसी से लोटपोट होती फिर ग्राई ग्रौर ज़ोर से चीख़ी :

"मालकिन ने ग्रापको बुलाया है, वह टेढ़ी ग्रांखों वाला मेहमान फिर ग्राया है।"

"ग्रच्छा-ग्रच्छा," गालीना ने उत्तर दिया, "ग्रभी ग्राती हूं।"

उसने सोचा था कि डॉक्टर ग्रब कभी नहीं ग्रायेगा। उसने कपड़े बदले, शीशा उतारा ग्रौर बगल से चेहरा देखा – तीखी नाक दिखी।

"मैं बिलकुल बदल गई हूं... मैं तो हर दिन ही नई हो जाती हूं... बदली हुई, जैसी कल... क्या ही ग्रच्छा हो कि सभी मेरी मुट्ठी में ग्रा जायें – वह इंस्पेक्टर, ये बच्चे, वे किसान, उनकी ग्रौरतें... ग्रौर, वह डॉक्टर?.."

उसने शीशा वापस टांग दिया।

पादरी के यहां पहुंची। घर सदा जैसा था – केनरी-पक्षी, क्या खुदबुद-खुदबुद करता समोवार, बढ़िया सिंके रोलों का ग्रंबार। पादरी दिमीत्री ख़ुद भी जैसे के तैसे थे – उसी तरह लंबे-चौड़े, सुंदर, काली दाढ़ीवाले, वही पुराना चोग़ा पहने, चोग़ा उसी तरह उनके शरीर पर जमता न था, उसकी उन्हें ज़रूरत न थी।

डॉक्टर ने उसे देखा तो किन्हीं विचारों में डूबे-डूबे इस तरह उसका ग्रभिवादन किया, जैसे कि वे दोनों ग्रभी-ग्रभी कुछ क्षणों पहले ही एक-दूसरे से ग्रलग हुए हों। वह इस समय भी कुछ बिखरा-बिखरा सा, ग्रासपास के वातावरण से ग्रछूता, कहीं दूर ध्यान लगाये हुए था। ग्रागे के बालों की एक लट ग्रब भी उसकी भौहों पर लटक रही थी।

सूरज ग्रब भी चमक रहा था। सोने की किरणें मकानों के बीच से गुज़रकर खिड़कियों पर पड़ रही थीं। खिड़कियां पाले से मुक्त हो चुकी थीं। बच्चे दूर के कमरे में होहल्ला कर खेलकूद रहे थे। इतने में पादरी की पत्नी एक पुरानी पत्रिका लिए हुए ग्राईं।

"इसे पढ़ने का समय ही नहीं मिला, गालीना... इसे मैं फिर कभी पढ़ लूंगी।"

और वे लालसा से नई पत्रिका के पन्ने पलटने लगीं। पत्रिका गालीना साथ लाई थी।

लीदा ने कुछ विचारती सी, प्रश्न करती सी दृष्टि डॉक्टर पर डाली। उसकी बड़ी-बड़ी, गोल आंखों में जैसे कोई ख़ास बात थी, जैसे कुछ ऐसा था, जो अनूठा था, जिसका जवाब मिलना आसान न था।

डॉक्टर कुछ ऐसे विषयों की चर्चा कर रहा था जिसका किसी से किसी तरह का कोई संबंध नहीं था। पर, इस पर भी अजीब उसमें कुछ भी न लगता था, जैसे कि सब के सब लोग केवल उसी दिशा में सोच रहे हों।

"घनिष्ठ मित्रों के बीच सबसे बुरी बात होती है—उनके विचारों का पारस्परिक संयोग।"

उसकी आंखें चमकती रहीं। वह मुड़ा और उसने उदासीन भाव से पादरी, पादरी की पत्नी और गालीना पर एक तिरछी निगाह डाली। नज़र गालीना पर टिकी, तो वह सिहर उठी और इसे दबाने के लिए उसने अपने दांत कसकर भींच लिये।

"सबसे बुरी बात... जी हां... आपका दूसरे के साथ रवैया, अपने सबसे निकटतम के प्रति भी, अपनी एक विशेषता होती है इसमें... जहां तक आपका सवाल है, आपके अंदर जो कुछ है, उसकी आप परीक्षा कर सकते हैं, यानी यह आपकी अपनी प्रक्रिया है, पर, जहां किसी दूसरे का सवाल आया कि आपको विरोध की आवश्यकता पड़ी, समझते हैं न, कुछ नया, कुछ भिन्न, कुछ ऐसा जो आपके विचारों की कड़ी तोड़ कर मिल जाये, इसमें कुछ नवीनता ले आये, और सब कुछ उलट-पलट कर दे..."

पादरी की पत्नी ने यह भाषण अपने ढंग से समझा।

"बच्चे-कच्चे न हों तो यह सब ठीक है।"

"यदि आप जान जायें कि कोई कैसे चलता-फिरता है, सोचता-विचारता है, हंसता-बोलता है, और कामकाज करता है... तो यह तो बड़ी डरावनी बात है, यह तो अपने को दर्पण में देखने जैसी बात है।"

गालीना ने सिर झुका लिया। उसके नथुने फूल उठे। पहले की तरह डॉक्टर की बातें उसे इस बार फिर अंशतः सही लगीं। वह खीझ सी

उठी और विरोध के लिए विरोध करने का हठ मन में जड़ पकड़ गया :

"मैं आपकी बात समझी नहीं..."

पर, पादरी ने उसकी बात पूरी नहीं होने दी :

"निकानोर सेर्गेयेविच हमेशा बात ख़ास ही ढंग से कहते हैं..."

पत्नी बीच में बोल उठीं :

"तुम पुरुषों के लिए गाल बजाना आसान होता है। पर औरत— उसके बच्चे-कच्चे होते हैं, घरबार है, नौकर-चाकर हैं। वैसे इससे कौन इंकार कर सकता है कि मानसिक विकास तो होना ही चाहिए। मेरी ही मिसाल ले लो, मुझे पत्रिका तक पढ़ने का समय नहीं मिलता... लेकिन, गालीना, यह पत्रिका तो मैं निश्चय ही पढ़ डालूंगी... गाश्का ने अभी-अभी दो गिलास और तीन प्याले तोड़ डाले हैं। निश्चय ही मैं दाम तनख़्वाह से काट लूंगी। पर, पादरी का कहना है कि ऐसा करना ठीक नहीं।"

"इस तरह दाम काटना तो ऐसा होगा जैसे कोई भिखारी का माल मार ले।"

"क्या मतलब भिखारी? कैसा भिखारी? कभी-कभी अचरज होता है तुम्हारी बातों पर! सचमुच ही तुम्हें देखकर हैरानी होती है और कुछ नहीं... अजीब बातें करते हो, समझ में नहीं आतीं... चौधरी बन जाते हो, और अजीब तरह से बीच-बचाव करते हो... वह चीज़ें तोड़-फोड़ डाले और तुम उसे शाबाशी दोगे या शायद..."

पादरी दिमीत्री ने बेबसी से अपने हाथ हिलाये।

पत्नी तवे सी लाल हो उठीं। उन्होंने हड़बड़ाकर गालीना का प्याला उठाया और उसमें चाय उड़ेलने लगीं।

"एक मिनट, अभी मैंने पहली चाय भी नहीं पी! अभी तो आधा प्याला बाक़ी है..."

"सबसे बुरी बात तो यह है," जैसे कि अपने-आप से कहते हुए और अजीब उद्भ्रांत सा मुस्कराते हुए डॉक्टर बोला, "यानी सबसे बुरी बात है विचारों का संयोग। हां, जब विचार एक दूसरे से ईस्टर के काठ के अंडों की तरह मिलने लगते हैं, एक के अंदर एक दस तक बैठते चले जाते हैं..."

"मेरी समझ में बात नहीं आती," इस बार भी अपनी लंबी बरौनियां ऊपर न उठाते हुए गालीना ने कहा, "मेरी समझ में बात नहीं आती... अगर दो मित्र किसी मामले में एक राय रखते हैं तो इसका मतलब यह है कि कहीं न कहीं, कुछ न कुछ ऐसा है, जो उन दोनों में समान है। यदि इन दोनों व्यक्तियों में एक व्यक्ति पुरुष हुआ और दूसरी स्त्री, जैसे कि पति और पत्नी, तो उनके लिए सुख ही सुख है। और यदि वे मित्र हैं और उनके विचारों का समान लक्ष्यबिंदु है तो फिर आनंद ही आनंद समझिये।"

डॉक्टर की आंखें अब वास्तविक जलन से चमकने लगीं:

"यही तो बात है! समानता यह है कि औरत शिल्पी से विवाह करती है तो स्वयं शिल्पी बन जाती है और केवल निर्माणों के शिल्पों में रुचि लेती है। किसी संगीतकार से विवाह करती है तो संगीत, संगीतनाटकों और गीतों के अलावा उसे किसी और चीज़ की चाह ही नहीं रह जाती। मान लीजिए कि पति पुलिस अफ़सर हुआ, तो उसे जासूसी में रस मिलने लगता है और अगर पति पादरी हुआ तो..."

"अब आप हद से बाहर जा रहे हैं, डॉक्टर साहब!" – जूठा कटोरा एक ओर हटाते हुए पादरी की पत्नी चीखीं। उनके कान लाल हो जल रहे थे।

"हां, यह तो ज़रा... इतना नहीं होना चाहिए था," पादरी दिमीत्री की आवाज़ में बाक़ी सब की आवाज़ें डूब गईं।

"आख़िर बाक़ी ही क्या रहा हमारे पास?.. विवाह-संस्कार का महत्त्व ही क्या है?.." चाय की गीली छलनी डॉक्टर की ओर झटकारते हुए पादरी की पत्नी ने पूछा।

डॉक्टर रह-रहकर पलकें झपकाने लगा। उसकी आंखें इस तरह चमकने लगीं कि पादरी की पत्नी आश्चर्य में पड़ गई: "कहीं यह आदमी पागल तो नहीं हो गया है!.." पर, वे शांत रहीं।

डॉक्टर कहता गया:

"अगर शिल्पी की विधवा किसी लेखक से शादी कर ले, तो वह तन मन से साहित्य में डूब जाती है, और दुनिया में किसी और चीज़ की बात करना पसंद ही नहीं करती। अंत एक ही होता है: पति-पत्नी, वे अपनी आत्मा, अपना जीवन, अपने अंतरतम के गूढ़, गहन रहस्य

एक दूसरे को दे देते हैं। फिर पांच साल में या आठ सालों में रस की बूंद-बूंद तक चुक जाती है, अत्यधिक भयावह स्थिति का आरंभ हो जाता है – ऊब, उकताहट।"

पादरी की पत्नी ने चाय की छलनी तश्तरियों पर दे मारी और उछल पड़ीं। उनका चेहरा ग़ुस्से से तमतमा उठा और उसपर सफ़ेद धब्बे से रेंगने लगे।

"मैं कहती हूं कि अब तो हद हो गई! सचमुच, आख़िर अभी आगे और क्या है? ईश्वर की कृपा से मैंने बारह साल पादरी दिमीत्री के साथ बिताये हैं, और अब तक कभी छोटी से छोटी बात में भी हममें आपस में मतभेद नहीं हुआ है। ईश्वर सब को ही ऐसा सुख प्रदान करे। और अब भला हम एक दूसरे से ऊबने लगेंगे? मैं इनके बच्चों की मां बनी, हमने कहने-सुनने लायक़ कोई भी बात कभी अपने मन में नहीं रखी, सदा एक दूसरे के सामने कह दी और अब मैं अपना रास्ता ले सकती हूं, और यहां से जा सकती हूं? और, पादरी दिमीत्री के बारे में क्या राय है? उन्हें क्या करना चाहिए? कोई नई, जवान लड़की घर में ले आयें?.. है न? ज़रा देखिये तो कैसे सुंदर लगते हैं पादरी! आप इनके बारे में क्या सोचते हैं, मैं पूछती हूं? जाने कितनी जवान लड़कियां हैं आस-पास। वे गाश्का को चुन सकते हैं अच्छी स्वस्थ है। और, इसके अलावा..."

"बहुत हुआ, बस भी करो न, मैं कहता हूं... तुम पागल तो नहीं हो गई हो?" पादरी दिमीत्री ग़ुस्से में भरकर अपनी जगह से उठ खड़े हुए।

"हां बस तो होगी ही... मैं ये सारे सिद्धांत-मंत्र ख़ूब जानती हूं, तुम्हें तो ये ख़ूब ही सुहाते हैं। तुमने मेरी जवानी ली, तंदरुस्ती ली, ताक़त ले ली, अब क्या बचा है? अब तो मैं आराम से जहां सींग समाये वहां जा सकती हूं।"

"तुम सचमुच ऊब गई हो? बहुत अरसे से तुमने कोई कांड नहीं किया था न? ऐसे कांड किये बिना तो पेट नहीं भरता तुम्हारा... तुम्हारे ये सारे चरित्र यहां जमा है, यहां!" पादरी दिमीत्री ने अपनी गरदन के पिछले हिस्से पर हाथ मारा। "तुम मेरी जान खाये जा रही हो..."

पत्नी की आंखें छलछला आईं, और वह सिसकी भरने लगी:

"सचमुच क़सूर तो मेरा ही है, मैंने तुम्हारी ज़िंदगी बरबाद की है, ठीक है... और, याद है, शादी के पहले जब आगे-पीछे फिरते थे, आत्महत्या की बातें करते थे... ये ब-बच्चे... बस, मैं तो इन्हीं का मुंह देखती हूं।"

लीदा अपनी बड़ी-बड़ी, प्रश्न करती सी आंखों से अपनी मां को देख रही थी। उसने अपनी दुबली बाहें उठाईं, मां के गले में डालीं और बड़े ही प्यार भरे, समझदारी के ढंग में कहा:

"मां? .."

अपने प्रत्याशा भरे स्वर के बदले बड़ों से उत्तर न पाकर उसकी बड़ी-बड़ी खुली आकुलता भरी आंखें उदास हो गईं।

मां ने आवेश में उसे सीने से लगा लिया, और अपने आंसू पोंछ डाले।

"छि:, कितनी बेवकूफ़ हूं मैं! .. लीदा, देखो, कुछ खाने को मंगवाओ।"

रात खिड़की से झांकने लगी। समोवार ठंडा हो चला था।

डॉक्टर की निगाहें कहीं दूर चली गईं, और वह अपने ही गहन विचारों में डूबा था।

"यदि मुझे मिलता... हां..." एक क्षण को उसने हाथों से अपना मुंह ढंक लिया। "प्यार करना, सबसे प्रबल और सब को अंतर्निहित कर लेनेवाली भावनाओं की अनुभूति करना मनुष्य की प्रवृत्ति है। और यही परम सुख है। लोग इसे सहेजकर रख क्यों नहीं पाते? वे अपनी अंतिम सांस तक इस भावना को जीवन में साथ लिये क्यों नहीं चलते? .. कहीं कोई भारी छल है, निकृष्ट कपट है..."

उसने अपना चेहरा ढंका, ज़रा देर ख़ामोश बैठा रहा, फिर हाथ चेहरे से हटा लिये, और फिर जो आंखें गालीना पर पड़ीं – वे एकदम सीधी थीं, काली आंखें बिना चमक के, पर जिनमें गहरी उदासी भरी थी। बोला:

"औरत की अपनी कोई ज़िंदगी नहीं होती, आप समझ रही हैं, न, रचनात्मक ज़रा भी नहीं। इससे मेरा यह प्रयोजन नहीं कि वह मेज़ के आगे आ बैठे, अंग्रेज़ी काग़ज़ का पन्ना उठा ले, सीपी का क़लम हाथ में ले ले, अपनी नीली आंखें नीले आसमान पर लगा दे..."

"पर, मेरी आंखें तो भूरी हैं," गालीना ने सोचा।

"...और, कविताएं लिखने लगे," डॉक्टर कहता गया। "मेरा आशय ऐसे रचनात्मक प्रयास से नहीं है, बल्कि मेरा संकेत है किसी और चीज़ की ओर, जो इससे अधिक सरल, साधारण और प्रतिदिन की है। उदाहरण के लिए वह अपने बच्चे का पालना झुलाये तो कोई गीत गाये जो उसका अपना हो, कहानियां सुनाये तो अपनी सुनाये, कहानियां भले ही अटपटी, अनगढ़ हों, भले ही लिखी न जा सकें, पर हों उसकी अपनी। आप समझते हैं न मेरी बात—मैं यह कहना चाहता हूं कि कुछ हो जो उसका अपना हो। आप कभी उसकी आंखों में झांकें तो वे आपको अजीब लगें, जैसे कि वह कोई अपने मन की, अपनी बात सोच रही हो, और आपके विचारों को अपने लिए बाधक मानती हो। यह होगा उसका नयापन, वह उस क्षण आपको बिलकुल नई लगेगी, और पहले वह आपको भिन्न ही नज़र आयेगी। ऐसे में आप सिहर उठेंगे और यह जानने की कामना करने लगेंगे कि इन आंखों के पीछे क्या है?.."

"अपने पति के लिए मुसीबत!" पादरी दिमीत्री ने हंसते हुए कहा।

डॉक्टर ने उनकी बात नहीं सुनी। पीछे हाथ बांधे, सिर झुकाये इधर-उधर टहलता रहा था।

"आदमी के पास अपना काम होता है, उसका अपने कार्य का क्षेत्र होता है जहां वह जा सकता है, यहां तक कि परिवार से भी बचने के लिए वह वहां जा सकता है। औरत के पास इस तरह का कुछ नहीं होता—हर चीज़ सामने होती है, एक नज़र में ही सब कुछ चुक जाता है, और यही अंत है। दोनों के जीवन की त्रासदी होती है, दोनों के लिए दुर्भाग्य की बात है!"

गालीना के दिमाग़ में हज़ारों ज़हरबुझे एतराज़ उमड़ने लगे, पर उसने पूछा एक नहीं। उसे आशंका थी कि विवेचन पर उसकी कटु आलोचना का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

पादरी की पत्नी का क्रोध इस बीच ठंडा पड़ गया था, शांत मन से बोलीं:

"आपकी तरह के लोगों को शादी कभी नहीं करनी चाहिए।"

बेलबूटों से सजी रोग़नी बड़ी सी ट्रे में तश्तरियां लिए गाश्का अंदर आई। उसके लाल गाल और भी लाल और फूले हुए लगे, और उसकी

सहमी घूरती आंखों में हंसी छिपी मालूम हुई। पादरी की पत्नी ने सलीक़े से सभी को तश्तरियां दीं।

"लीजिये, अपने आप ले लीजिये... कुकुरमुत्ते का अचार, तरह-तरह का... निकानोर सेर्गेयेविच, लीजिये, यह लीजिये, गालीना, लो न..."

डॉक्टर ने बढ़कर चीज़ें तश्तरी पर रख लीं और एक बार फिर तिरछी निगाह डाली। इस समय भी वह अपनी ही दुनिया में खोया था।

"यह आप कर क्या रहे हैं, निकानोर सेर्गेयेविच, गोश्त और मछली एक ही तश्तरी में... दूसरी ले लीजिये।" उन्होंने एक दूसरी तश्तरी उसकी ओर बढ़ा दी।

"आप कह रही थीं..." डॉक्टर ने गालीना की ओर देखे बिना उसे संबोधित करते हुए कहना शुरू किया।

पर गालीना उस पर खीज उठी। सोचने लगी—आख़िर सब लोग इस डॉक्टर के इशारे पर क्यों नाचते हैं? इसके मनभाती क्यों कहते हैं?

"इंस्पेक्टर दो बार मुझसे मिलने आ चुका है," गालीना ने बेरुख़ी से कहा, पर डॉक्टर की ओर देखा नहीं। "बड़ा मज़ेदार आदमी मालूम होता है। एक बार आया तो उसने सारे के सारे बच्चों को बुला भेजा, और..."

"आप कह रही थीं कि सारे के सारे किसान..." उसकी ओर तिरछी निगाह डालते हुए डॉक्टर बोला।

"यहां तो अभद्रता की सीमा नहीं है," गालीना ने सोचा।

ढेर सी रसभरी बिलबेरी अपनी तश्तरी में रखने लगी और दिखावा ऐसा किया, जैसे कि डॉक्टर की ओर बिलकुल ध्यान ही न दे रही हो।

"दीजिये, एक चम्मच ज़रा।"

"...हां, आप कह रही थीं कि सभी किसान निकीफ़ोर लुकीच ही हैं, अविकसित स्थिति में..."

"मैंने क्यों, यह बात तो ख़ुद आपने कही थी!" गालीना ने आंखें ऊपर कीं, और उसकी ओर अचरज से देखा। उसका चेहरा क्रोध से तमतमा उठा था।

"मैंने कहा था? ख़ैर, अंतर क्या पड़ता है?.. आप ख़ुद भी यही

सोचती होंगी। जो साफ़ है, जो सामने है, आप उससे निगाहें कैसे बचा सकती हैं?"

सहसा ही वह रुक गया और उदास और थका हुआ सा लगने लगा।

गाश्का का चौड़ा, लाल चेहरा दरवाज़े पर झलका:

"घोड़े तैयार खड़े हैं, बर्फ़ के नीचे पानी है... कोचवान भुनभुना रहा है।"

पादरी की पत्नी ने अधीरता से अपना हाथ हिलाया और गाश्का हवा हो गई।

"औरत रात की तरह होती है, सपनों से गहराये अंधकार की तरह। और किसान जंगल समझिये, घना, काला, अचल, स्थिर। आप ऐसे किसी जंगल में घुसें तो किसी दलदल में धंस जायेंगे या किसी ठूंठ से टकरा जायेंगे कि आपकी टांग टूट जायेगी। आप शाखों के बीच आंखें गड़ाकर पार देखने की कोशिश करेंगे, कभी-कभी दूर पर कुछ उजाला लौ देता भी दीख पड़ेगा, पर, आप चलते जायेंगे, चलते जायेंगे, और जंगल है कि कहीं ख़त्म होने को ही न आयेगा... अच्छा, तो अब मैं चलूं, काफ़ी समय हो गया। आप भी चलेंगी क्या?"

"जी हां, मैं भी जाऊंगी ही अब।"

"आइये, तो साथ चलें, थोड़ा साथ हो जायेगा।"

"नहीं, मैं तो ज़रा देर रुकूंगी अभी!"

डॉक्टर पहले तो उदास खड़ा रहा, पर फिर उसने विदा ली। कुछ क्षण तक घोड़ों की काठियों की घंटियां टुनटुनाती रहीं, पर ज़रा देर बाद दूरी में डूब गईं। बाक़ी रह गया एक अजीब सा वातावरण, एक अजीब सा प्रभाव। आप चाहें तो इसे किसी बात का पूर्वाभास कहें, और चाहें तो संताप।

पादरी दिमीत्री कमरे में पैरों में पड़ी लौटती परछाईं के साथ इधर-उधर चहलक़दमी करने लगे। उनकी पत्नी चाय के प्याले-तश्तरियां धोने में लग गईं। बरतन खनखनाने लगे।

"बड़ा असाधारण सा आदमी है, अजीब सा..."

"पागल है," पत्नी ने शांत स्वरों में कहा।

"ऐसे लोग रोज़ नहीं मिलते। वह काम करता है तो दीवाने की तरह। दो बार तो उसे टाइफ़स हो चुका है। किसान उससे डरते हैं।

उससे मुलाक़ात भी विचित्र ढंग से हुई थी। अस्पताल पोदगोरनोये में है, यहां से कोई चालीस वेर्स्ता दूर। एक बार मैं वहां गया था। कोई मेला वहां लगा हुआ था उस समय। मैं गिरजे के मुखिये के साथ घूम रहा था, वह एक बैल ख़रीदना चाहता था। मैंने उसे दांत का मंजन लेने के लिए अस्पताल के दवाख़ाने में भेजा। तुम जानती हो, मंजन की क़ीमत ही कितनी होती है! मुखिया वहां गया और उसने पादरी का नाम लेकर डॉक्टर के सहायक से चीज़ मांगी। सहायक मंजन निकाल ही रहा था कि डॉक्टर आ गया। पूछने लगा: 'किसके लिए है यह?' सहायक ने उत्तर दिया: 'पादरी साहब ने मंगवाया है।' 'किस चीज़ के लिए?' मुखिया सहम गया, बोला: 'धूपदानी साफ़ करने के लिए।' डॉक्टर बोला: 'ठीक है, पादरीसाहब से कहो कि जब उनकी धूपदानी के मसूड़े हो जायेंगे और उनमें दांत निकल आयेंगे, तो मैं दांत का मंजन भिजवा दूंगा। पर, तब तक तुम अपना मुंह न दिखलाना यहां, समझे, निकल जाओ यहां से!'"

"गधा कहीं का!"—पत्नी ने फिर बात काटी।

"इसके बाद हममें सुलह हो गई और अब हमारी ख़ासी दोस्ती है।"

गालीना घर के लिए रवाना हुई और अंधकार में बाड़े के तार के किनारे-किनारे चलती रही। जमी हुई बर्फ़ की तह उसके पैरों के नीचे चरमराती रही। दिन में गली हुई बर्फ़ की गंध वातावरण में भरी थी। उस में नन्नी तलैयों की सतह के ऊपर की जमी बर्फ़ की हलकी परत की गंध थी। उस में शाम के पाले में अकड़े गोबर की गंध थी—उस में वसंत की गंध थी।

दिन और बड़े होने लगे। आसमान और नीला हो उठा। सूरज अच्छी तरह तपने लगा। सुबह आंख खोलते ही धूप आंखों में भर जाती और फिर लाख चाहने पर भी उससे बचने का उपाय न था। जहां नज़र जाती, वहीं सोने के टुकड़े दिखलाई पड़ते। गलियों और सड़कों की जो हालत होती उसकी कल्पना करना कठिन था। उजाले की चकाचौंध करने-वाली चमक थी, पानी बहता तो ज़ोर का कलकल नाद करता था। बच्चों को स्कूल में बुलाना कठिन हो गया। वे धारा में कूद पड़ते और लकड़ी की खपच्चियों के जहाज़ बनाकर पानी में छोड़ते। जब वे स्कूल पहुंचते भी तो ख़ूब ख़ुश और ऊपर से नीचे तक तर।

वैसे तो सड़कें न पैदल आने-जाने के लायक़ थीं, और न घुड़सवारी के लायक़, पर गालीना का धीरज चुक गया और वह घर में बंधी न रह सकी। इतवार आया तो गिरजे के गीतों के बेसुरे स्वर हवा में लहराये। हर इतवार और हर संत-दिवस पर उसे वहां जाना चाहिए था, क्योंकि न जाने पर उसकी शिकायत हो सकती थी। पर, इस पर भी वह उस दिन स्कूल से निकली तो गिरजे में न जाकर आगे टीले की ओर बढ़ गई।

जहां तक दृष्टि गई, वहां तक बर्फ़ दम तोड़ती दिखलाई पड़ी। गालीना की आंखें उसे देखते दुखने लगीं। बर्फ़ गल रही थी और उसके ऊपर के खुले हुए फैलाव में बड़ी चकाचौंध थी। ऊंची जगह पर ज़मीन जहां-तहां साफ़ हो चुकी थी और इन टुकड़ों से धूप में भाप सी निकल रही थी। पास-दूर के गांव कजरारे द्वीपों से लगते थे। बर्फ़ छतों से नीचे गिर गई थी, और बर्फ़ के पिघलने के साथ घोड़े की लीद भी यहां से वहां तक फैल गई थी। इससे सड़क कुछ-कुछ भूरी हो उठी थी और गांवों के द्वीपों के बीच लहराती, मोड़ लेती मालूम होती थी।

"नहीं, नहीं, नीचे न जाओ!" उसने अपने-आप को सावधान किया।

पर, अब तक उसने ढाल पर उतरना शुरू कर दिया था और गलती हुई बर्फ़ पर जहां-तहां गिरती-पड़ती वह किसी न किसी तरह नीचे तले तक पहुंच ही गई। उसके बरसाती जूतों में पानी भर गया और पैर भीग गये। परंतु, मन अनिर्बाध आह्लाद और आनंद से भर उठा।

उसने मुड़कर देखा—गांव पीछे दूर रह गया था ऊंचाई पर—गिरजे के हरे गुंबद और मकानों के छप्पर अब भी झलक रहे थे। वे जाड़े के कारण और भी काले पड़ गये थे, और गल गये थे। गांव में मुर्ग़ियां आपस में गपशप कर रही थीं, मुर्ग़े कुकड़ूं-कूं कर रहे थे, कुत्ते भूंक रहे थे, बच्चे एक-दूसरे को आवाज़ें दे रहे थे और इन सब में एक नया तराना था—वसंत का तराना—जो वसंत की धूप की गरमी और पिघलती बर्फ़ की ठंड से एक साथ ही व्याप्त हो उठा था। अपने सूने और एकाकी कमरे में लौटने को उसका तनिक भी मन नहीं हुआ। उस लहराती रोशनी में और उन अस्फुट से वसंत के स्वरों में कैसी अटपटी सी गति थी। एक स्वर ने पूछा:

"तुम जीना, प्यार करना नहीं चाहतीं? .."

जब वह लौटी तो वैसे तो वह ख़ुश थी और उसके मन में प्रसन्नता लहरें ले रही थी, पर यों वह थक गई थी। उसके हाथ-पैरों में मीठा-मीठा दर्द हो रहा था, और उसका सिर चक्कर सा खा रहा था। पादरी की पत्नी से मिल आने का उसका बड़ा मन हुआ, पर वह गई नहीं। थकान ने लेटने को मजबूर किया। वह बिस्तरे पर जा लेटी, और लेटते ही जो पलकें झुकीं तो तुरंत ही गहरी नींद आ गई। दूसरी ओर, दूसरे ही क्षण गिरजाघर के घंटे घनघनाने लगे, जैसे कि किसी संकट की सूचना दे रहे हों।

गालीना ने आंखें खोलीं—हर ओर अंधेरा और शांति थी। उसने आंखें बंद कर लीं, पर फिर तुरंत ही चारों ओर से भयानक शोरगुल की आवाज़ें आने लगीं। उसका सिर दर्द से फटने लगा।

"बस करो, मैं नहीं चाहती..." उसने दर्द से कहा और अपनी बंद बोझिल पलकें खोलने की कोशिश की। शोर बढ़ता ही गया—होते-होते शोरगुल हर ओर गूंजने लगा—कमरे में, गांव में और पिघलती हुई बर्फ़ से ढके खेतों में।

"उफ़! मुझे ज़रा सा तो आराम कर लेने दो!"

"नहीं, ज़रा भी नहीं..." फिर आवाज़ आई। "किसान अपना काम करेंगे, तुम अपना काम करो। जैसी स्त्रियां, वैसे ही किसान—दोनों में कोई अंतर नहीं—अंधकार..."

गालीना ने बड़ी चेष्टा की, और तब कहीं दर्द से भारी पलकें ऊपर उठा सकी। तुरंत ही अंधियारा और सूना मौन छा गया। केवल खिड़की का चौखटा थोड़ा बहुत नज़र आ रहा था—सो भी अपनी उदास-उदास सी, भारी-भारी सी रोशनी के कारण।

उसे धक्का सा लगा। उसकी आंखें जलती और करकती रहीं। पलकें फिर सीसे जैसी भारी हो गईं और धीरे-धीरे झप गईं। शोर फिर शुरू हुआ, जैसे ख़ून से रंगा, डगमगाता कि उसका विस्तार असह्य हो उठा।

"उफ़, ख़ैर, कोई बात नहीं।"

गालीना ने अपने आप से लड़ना बंद कर दिया और अपने आप को अनिवार्य को सौंप दिया।

कमरा लोगों से भर गया। दूसरों के साथ फ़ेदोस्युश्का भी वहां आई। वह गालीना के शरीर पर झुकी और चिमटी से उसकी खाल उधेड़ने लगी।

"फ़ेदोस्युश्का, तुम्हें याद है, समुद्र के तल में हम कैसे साथ-साथ घूमते रहे थे? और, वह ओसारा, वह मकान, और तुम, और मैं–नीचे तले में, और सारा कुछ नीला-नीला, ठंडा-ठंडा हमारे सिरों के ऊपर..."

"...मुझे सताओ नहीं! .."

और, निकीफ़ोर लुकीच की गरदन पर चर्बी की परत पर परत चढ़ गई।

एक दुबली-पतली, पीली सी लड़की ने नीचे झुककर अपना सिर बिस्तर पर टिकाया, और बिना होंठ हिलाये पूछा:

"तुम उसे प्यार करती हो क्या?"

गालीना ने कोई उत्तर नहीं दिया।

"पर, तुम उसे क्यों प्यार करती हो?"

फिर भी कोई उत्तर नहीं।

"शायद इसलिए कि वह दूसरों से ज़रा अलग है?"

"नहीं।"

"शायद इसलिए कि वह अड़तालीस घंटे रोज़ काम करता है?"

"नहीं।"

"शायद इसलिए कि किसान उससे डरते हैं?"

"नहीं।"

"शायद इसलिए कि उसके दाढ़ी है, मूंछ है, शायद इसलिए कि उसकी आंखें काली और तिरछी सी हैं?"

"नहीं।"

ख़ामोशी।

उसने आश्चर्य से आंखें उठाईं: निकीफ़ोर लुकीच और चर्बी की परतें हवा हो गई थीं। दुबली-पतली, पीली लड़की आंसुओं में पिघल गई थी। औरतें विलाप कर रही थीं। उसने वासीली की आवाज़ सुनी:

"वे लोग आ गये हैं।"

"परमपिता और चिरकुमारी मेरी को धन्यवाद है..." फ़ेदोयुस्का ने कहा। "बेचारी, कितनी बीमार है!"

हवा में एक बूढ़ी औरत का अनजाना चेहरा उभरा, पहले तो रूपरेखा अस्पष्ट और अनिश्चित थी, पर धीरे-धीरे साफ़ दीखने लगी– चेहरे पर झुर्रियां, गाल पिचके हुए, आंखों के पपोटे लाल। बुढ़िया आगे बढ़ी, झुकी और धुंधली आंखों से उसे देखने लगी।

गालीना बहुत डर गई और उसका शरीर बुरी तरह कांपने लगा। फिर शोरगुल से कान फटने लगे। पर, शोर इतना बढ़ गया कि उसके सिर में दर्द होने लगा।

बुढ़िया ने धुंधली आंखों से उसे देखा और उंगलियों से टटोला।

मुंह ही मुंह में बोले शब्द, कुछ समझ आये, कुछ नहीं। फिर फुसफुसाहट जिसमें सारी आवाज़ें डूब गईं:

"...उस सागर में, उस महासागर में, वहां बलूत का एक पुराना ठूंठ है..."

तांबे के घंटे घनघनाते रहे: घन-घन-घन...

बुढ़िया की नीरस बड़बड़ सीधे दर्द की जगह टकराई।

"...और, उस ठूंठ पर एक गिरजा है, उस गिरजे के पास एक पादरी है, पादरी के हाथ में क्रॉस है। और, सब कुछ ऐसा है जैसे कि उस सागर में, उस महासागर में बलूत का कोई भी ठूंठ नहीं हैं। बलूत के ठूंठ पर कोई भी गिरजा नहीं है, गिरजे के पास कोई भी पादरी नहीं है और, पादरी के हाथ में कोई भी क्रॉस नहीं है..."

वह सरसराहट, वह बुदबुदाहट, वह फुसफुसाहट चलती रही, चलती रही कि नींद आ गई और आसमान हिलानेवाला भयानक शोरगुल धीरे-धीरे समाप्त हो गया।

"...इसलिए कि प्रभु की यह सेविका..."

उसने यह शब्द फुसफुसाकर कहे ही थे कि लड़की की नींद फिर खुल गई, सहसा ही कितनी ही स्त्रियों की एक साथ बेसुरी कराहती आवाज़ें उसके कानों में आने लगीं, आवाज़ें दिमाग़ में इस तरह गूंजने लगीं कि उसका माथा फटने लगा: "गालीना!!"

फिर शोर बढ़ चला और फिर नीरस फुसफुसाहट में सब कुछ डूब गया:

"...इसलिए कि प्रभु की यह सेविका बीमारी से टूट न जाये, मैं ग्राह्वान करती हूं, मैं मंत्र मारती हूं, मैं इसके पेट की ऐंठन हर लूंगी, मैं इसके गोरे मर्म स्थानों का दर्द सोख लूंगी, मैं इसकी लाल ग्रांतों की पीड़ा पी लूंगी, इसलिए कि प्रभु की यह सेविका..."

फिर ग्रौरतों की सामूहिक ग्रावाज़ें बीमार लड़की के दिमाग़ में गूंजने लगीं:

"गालीना!!"

"...जिससे प्रभु की यह सेविका हड्डियों से ग्रपना संबंध त्याग न दे, उसका शरीर सूख कर कांटा न हो जाये, पेट फट न जाये ग्रौर वह दर्द से कराह न उठे..."

फिर शरीर थका देनेवाली सिहरनें ख़त्म हो गईं, बुढ़िया चुड़ैल हवा बनकर उड़ गई, बाक़ी ग्रौरतों का भी नाम-निशान नहीं रहा। तस्वीरोंवाले पोस्टकार्ड दीवार पर ज़रा-ज़रा चमकने लगे। कहीं दूर, बहुत दूर से डूबते हुए शोरगुल के हल्के-हल्के स्वर ग्राते रहे, पर बाद में सब कुछ शांत हो गया।

पर वह समय दिन का था, या रात का?

शायद समय शाम का ही था, इसी कारण खिड़की के शीशे पर रह-रहकर परिचित चीज़ें झलक उठती थीं: जाना-पहचाना बुना हुग्रा शाल, ग्रौर फिर शाल से ढंका हुग्रा एक सिर, जो ममता ग्रौर स्नेह के कारण सहज ही हिला-डुला...

"नहीं, पहचानने की, कुछ याद करने की कोशिश करने से तकलीफ़ होती है।" गालीना ने ग्रांखें बंद कर लीं। दूर का शोर कभी ज़रा सुनाई पड़ा ग्रौर कभी दूरी में डूब गया। ग्राख़िरकार स्वर एकदम बुझ गये। पर, स्वरों के बदले ऐसे विचार दिमाग़ में ग्राने लगे कि उसका दिमाग़ भन्ना गया ग्रौर उसका सिर चक्कर खाने लगा। शायद यह वही सब कुछ था जो उसके चारों ग्रोर चल रहा था—यानी शायद यह वह एक दूसरा जीवन था जो बराबर ढल रहा था। यही था वह, यही है वह जो क्रिया ग्रौर शब्दों की, किसानों की, बच्चों की, पादरी के परिवार की पृष्ठभूमि में साधारण रूप में ग्रनुभूत दैनिक जीवन की बाह्य ग्रभिव्यक्तियों से परे प्रति क्षण निष्पन्न हो रहा है।

उसने अपनी पलकें ज़रा उठाईं—वही पोस्टकार्ड, वही अंधेरी खिड़की और किताब की ओट से मेज़ पर पड़नेवाली वही रोशनी। धीरे-धीरे यह सब कुछ छिप गया, और एक चेहरा सामने उभरा... यह चेहरा डॉक्टर का था। उसकी काली आंखें सीधे गालीना पर जा टिकीं।

"मां-आं! .."

यह पुकार बीमार हृदय की पुकार थी, संतप्त और एकाकी हृदय की पुकार थी, पर उसके होंठ बिना आवाज़ निकाले हिले, इस समय मां नहीं थी, और एक ज़माने से उसके कोई मां नहीं है। और, यह बात वह जानती थी।

डॉक्टर उसे बहुत देर तक देखता रहा—पर कैसे—दुष्ट भाव से या उदास मन से, या अपने विचारों में डूबा होने के कारण देखते हुए भी न देखते हुए, वह बता नहीं सकती थी।

गालीना ने बेबस होकर आंखें बंद कर लीं, और जैसे कोई अनजानी आज्ञा मानकर अंधेरे और मौन विश्रांति से अभिभूत हो गई। ज़रा देर बाद उसने दुबारा ज़रा सी आंखें खोलीं तो डॉक्टर का चेहरा फ़ेदोस्युश्का के चेहरे में बदल गया और किताब की ओट से रोशनी उसी तरह मेज़ पर पड़ रही थी।

फ़ेदोस्युश्का सिर हिलाये जा रही थी, फिर आगे-पीछे होकर झूमने लगी। दीवार पर पड़ती उसकी परछाईं उसके साथ-साथ हिल रही थी। उसने झटके से सिर ऊपर किया, और बैठ गई। और फिर सिर हिलाने लगी और हिलाये ही चली जा रही थी...

गालीना ने उसे देखा और... हंस दी। खिड़की से प्रकाश झांकने लगा था और ओट किये लैंप की लौ लाल पड़ चली थी—सवेरा हो गया क्या?

उसने फ़ेदोस्युश्का को बुलाना चाहा, पर शक्ति ने साथ न दिया। हल्के से मुस्करा दी और रोज़ाना जैसी शांत निद्रा में डूब गई।

वह जागी, तो उसे लगा जैसे कि कोई बेझिझकी से उसकी पलकें छेड़ रहा था। उसने आंखें खोलने की कोशिश की, तो ख़ुशी से पुलकती, चुभती सी, सुनहली किरणें बड़ी धृष्टता से उसे कुछ और देखने से रोक रही थीं।

"फ़ेदोस्युश्का, तुम हो?"

सारे कमरे में चटक धूप खिली थी। फ़ेदोस्युश्का दौड़ी आई और कंबल सीधा करने लगी।

"उफ़, मेरी नन्ही-मुन्नी, प्यारी गालीना, कितनी बीमार हो तुम! धन्य है परमपिता और चिरकुमारी मेरी... लो, दवा पियो, डॉक्टर ने कहा है... वासीली मेरे पास आया और बोला—'मास्टरनीजी की हालत ख़राब है, फिर वह पादरी की पत्नी के पास भागा-भागा गया। वह भागी-भागी यहां आई, तुम चुकंदर की तरह लाल भभूका हो रही थीं। देखकर वह बाहर निकल आईं—बोलीं—'मेरे बच्चे हैं, कहीं बीमारी लगनेवाली न हो।' उन्होंने घोड़ों की जोड़ी के साथ अपने नौकर को तुरंत डॉक्टर के पास दौड़ाया। लेकिन, इससे चिंता कम नहीं हुई—कौन जाने वह आदमी डॉक्टर को लेकर कब आये! हो सकता है कि डॉक्टर का इंतज़ार करते-करते ही तुम्हारा दम निकल जाये! इसलिए किसानों ने मिकीत्का को गोर्याइनोवो के पास भेजा कि वह येरेमेइख़ा को बुला लाये, मिकीत्का को तो जानती हो न? वही जो तुम्हें स्टेशन से गाड़ी पर स्कूल लाया था। सो, वह गया और चुटकी बजाते भर में लौट आया। ईश्वर येरेमेइख़ा को बड़ी उम्र दे, उसने ऐसा मंत्र फूंककर मारा कि बस! यह समझो कि वह न होती तो तुम दुबारा आंख न खोलतीं। सारी औरतें कमरे में जमा हो गई थीं, और दुख से हाथ मलने लगी थीं। पादरी की पत्नी भी बार-बार आईं, रोते-रोते खिड़की से झांककर देख लेती थीं, डरती थीं। हां, अंदर आने से रहीं। डॉक्टर पागलों की तरह भागता आया और उसने येरेमेइख़ा को और बाक़ी सभी औरतों को बाहर निकाला। सिर्फ़ मुझे ही तुम्हारे पास रहने दिया यहां और, मेरे भी वह पीछे पड़ गया! बीस बार तो हाथ धुलवाये, भगवान बुरा करे उसका, आदमी है कि शैतान... मेरा ख़्याल है कि वह ख़ुद सारी रात बैठा रहा तुम्हारे सिरहाने। दवाएं लाया—देखो, चारों ओर शीशियां ही शीशियां हैं... और, पादरी की पत्नी ने तुम्हारे लिए गाय के गोश्त का ताज़ा-ताज़ा शोरबा भेजा है—और इतना तेज़ कि रंग ही लाल है! लेकिन, तुमने तो एक बूंद तक गले के नीचे नहीं उतारी। उई, मैं भी कैसी बेवक़ूफ़ हूं, तुमसे बातें ही किये जा रही हूं, कहीं डॉक्टर आ गया ऐसे में तो मेरे टुकड़े ही कर डालेगा"

गालीना स्नेह से भर मुस्करा उठी, ग्रौर उसे एक ही अनुभूति थी उस समय – फ़ेदोस्युश्का, किसान, गांव की ग्रौरतें, क्या पादरी की पत्नी – वह सब को चाहती है...

"ग्रौर, डॉक्टर? .."

पर सबसे ग्रधिक प्यारी लगी उसे कमरे में हर ग्रोर से उमड़ती हुई ख़ुश रोशनी, जिसने सारे कमरे को गरमी ग्रौर चकाचौंध करनेवाली सुनहली किरणों से रंग दिया था।

जब तक गालीना बाहर ग्राने-जाने लायक़ हुई, बर्फ़ का नाम-निशान तक मिट गया। ग्रब वह जिधर भी नज़र दौड़ाती, उधर ही उसे क्षितिज तक, नीले गगन तक हरियाली ही हरियाली लहलहाती दीख पड़ती। बाग़-बग़ीचों की इस धानी धुंध के पीछे निकीफ़ोर लुकीच के गांव हैं, ग्रौर हो नहीं सकता कि यह दुख मुसीबत, ग़रीबी ग्रौर भूख वहां भी हो।

दो सप्ताह से बराबर पानी बरस रहा था। हर ग्रोर फिर कीचड़ के ग्रगम समुद्र में सब कुछ डूब गया था, पर इस समय हालत वैसी बुरी न थी, – हवा में झूलते, झूमते ग्रौर सरसराते हुए भोज के पेड़ ग्रब वैसे सूने नहीं थे, उनमें चमचमाती हुई कोंपलें निकल ग्राई थीं।

"ठीक है, धरती को जी भर ग्रपनी प्यास बुझा लेने दो, धन्य है प्रभु की महिमा!" – सिर से टोपियां उतारते ग्रौर ग्रपने सीनों पर क्रॉस बनाते हुए किसान कहते।

क्लास में पढ़ाते, खाते या स्वयं पढ़ते समय जब भी ऊपर ग्रांखें उठाकर देखती तो खिड़कियों पर उसे पानी की धारें जल्दी-जल्दी फिसलती नज़र ग्रातीं। ऐसे में प्रति क्षण उसे कोई ग्रनजानी सी इंतज़ार रहती – शायद यह कि सूरज नीले ग्राकाश पर निकले ग्रौर खेतों की हरियाली के दृश्य खोल दे! शायद यह कि किसी भी क्षण कोई ग्रा जायेगा।

लेकिन, कौन? ग्राने को तो कहीं कोई भी न था।

ग्राख़िरकार हवा ने ग्रपना काम कर डाला, बादलों को सुखा दिया, जैसे उन्हें दूर, बहुत दूर खदेड़ ले गई; मोटी-मोटी बूंदें थमीं, नीला ग्रासमान जहां-तहां साफ़ हुग्रा, होते-होते सारा ग्रंतरिक्ष धुल कर निखर उठा।

ग्रौर, ग्रचानक न जाने कहां से लाखों पक्षियों की कर्णभेदी चहचहाहट गूंज उठी। वे सब जगह थीं, ग्रभी-ग्रभी दम भर के लिए झाड़ियों में बिजली सी कौंधीं, तो ग्रभी वहां से फुर्र हो लीं, ग्रौर लगीं सीटियां सी बजाने, जैसे कि पल भर भी खोना न चाहती हों।

ग्रभी-ग्रभी धुली हरियाली ऐसी दमकने लगी कि ग्रांखें चौंधियाने लगीं। इस बीच धूप निकल ग्राई तो सारा ग्राम-प्रदेश जैसे सूरज की प्रशस्ति गाने ग्रौर गुणगान करने लगा।

गालीना ने खिड़की से देखा – कितनी जल्दी सड़क के दलदल की ऊपरी परत सूख गई। ग्रौर सफ़ेद हंस कुएं की जगत पर संतरियों से ग्रा खड़े हुए।

दोपहर को खाना ख़त्म हुग्रा ही था कि घोड़ों की एक जोड़ी सड़क के सिरे पर दिखी। लंबा कोट पहने कोचवान चाबुक सटकार रहा था। पर उसके पीछे बैठी सवारी को पहचानना संभव नहीं था।

कुत्ते ज़ोर-ज़ोर से भूंकते हुए मकानों के बाड़ों से बाहर निकल ग्राये। पर गाड़ी के पहिये धीरे-धीरे ही कीचड़ को मथ रहे थे।

यह गाड़ी गांव में से होकर जायेगी या किसी ग्रौर तरफ़ को मुड़ जायेगी?

ग्रानेवाला शायद कृषि-वैज्ञानिक है, या शायद जानवरों का डॉक्टर है ग्रौर शायद सिर्फ़ कपड़ा सीने की मशीनें बेचनेवाला है – जो ठीक-ठीक क़ीमत ग्रौर ग्रासान किश्तों पर मशीन बेच देता है। यदि कोई ग्रनजान भी है, तो ग्राये गांव में रुके, मकानों ग्रौर बाड़ों से दबे हुए रास्तों पर चले; ग्रायेगा, तो कुछ नई ख़बर लायेगा, गांव में जान पड़ेगी, कुछ नये चेहरे देखने की उत्सुकता गालीना को पहले कभी नहीं हुई थी।

पास ग्रौर पास... गाड़ी के ग्रंदर नक़ाब ग्रौर टोप पहने बैठी महिला को वह ग्रब देख सकती थी। काले दस्तानों में छिपे हाथों को ऊपर उठाकर उसने नक़ाब को ठीक किया।

पहियों के घूमने से सड़क की दलदल ग्रब भी मथ उठती थी। ग्राख़िरकार गाड़ी सड़क के उस पार से इस पार ग्राई, ग्रौर स्कूल की ग्रोर मुड़ी।

"ग्रोह, यहीं ग्रा रही है!.." गालीना ने ख़ुशी से मन ही मन कहा ग्रौर क्षण भर को उसकी सांस रुकी रह गई।

घोड़े स्कूल की बरसाती में आ खड़े हुए। उनकी दुमें बांधकर ऊंची कर दी गई थीं। गालीना आगंतुका से मिलने बाहर गई। महिला ने अपनी कनपटियों पर हल्के से उंगलियां रखीं, और कहा:

"मां-बाप की ओर से मेरा कुलनाम अंगारोवा है... बड़ा कीचड़ है... तुम्हारी मां हैं क्या? शायद उनका देहांत हो चुका है?.. यह स्कूल है न?"

चलता हुआ मुंह पारदर्शी नक़ाब में से साफ़ दिखाई नहीं दे रहा था, पर आकुल आंखों में पल भर के लिए बिजली सी कौंध जाने की अनुभूति होती थी।

"आइये, कमरे में आइये," आश्चर्य में डूबी मास्टरनी बोली।

"नहीं, नहीं, नहीं!" महिला ने हाथ हिलाकर मानो बेवसी से अपना बचाव किया। बहुत तनाव सहित संक्षोभ में मुंह को कुछ टेढ़ा करते हुए उसने गालीना की आंखों में देखा। लड़की की सांस अटकने सी लगी। उसने अपने कंधे झटके।

"आओ, स्कूल में चलें," अभ्यागत ने अपनी ओर से कहा।

दोनों क्लास में आईं। महिला ने दीवारों पर लटकती जानवरों की, पक्षियों की, मछलियों की तस्वीरों पर निगाह डाली, गोलार्द्धों को एक नज़र देखा, और काला तख़्ता उलटने की चेष्टा की।

"बच्चे तुम्हारा कहना मानते हैं?"

गालीना ने कंधे झटके:

"हां, जितना वे किसी और का मानते हैं।"

"अरे नहीं, वे तुम्हारी बात मानते हैं, वे तुम्हारी बात मानते हैं, और तुम्हें इसके लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता... तुम उन्हें कुछ भी इधर-उधर नहीं करने देतीं, कभी किसी तरह की सज़ा-ताड़ना भी नहीं देतीं, वे तो तुम्हारे हाथों में मोम बने रहते हैं।"

"यह आप कैसे जानती हैं?"

"मैं जानती हूं, मैं जानती हूं!.." महिला बोली और उसकी आवाज़ में अंदर के आंसू थे। "आओ... कमरे में चलें, पर, कृपया ज़रा जल्दी करो... हां, हां, चलो, तुम्हारे कमरे में ही चलते हैं..."

वे कमरे में आईं। अंगारोवा मेज़ पर बैठ गई, उसने ज़रा मुड़कर चेहरे से नक़ाब हटाया और दस्ताने उतारने लगी।

"बतलाओ... मुझे सीधे-सीधे बतला दो... ये पोस्टकार्ड बड़े अच्छे हैं... अच्छे लगते हैं, क्योंकि सब टेढ़े-मेढ़े और उलट-पुलट लगे हैं..." बिना पीछे घूमे वह अब भी दस्ताने उतार रही थी। "एक बात पूछूं, तुम ईमानदारी से बतलाओगी? .." वह सहसा ही मुड़ी, और गालीना की ओर देखकर बोली: "तुम मेरे पति को प्यार करती हो क्या?"

गालीना एक क़दम पीछे हट गई और फटी-फटी सी आंखों से मेहमान को घूरने लगी। महिला सुंदर, सांवले रंग की, दक्षिण की थी। नाक बड़ी ही नाज़ुक, सांचे में ढली सी थी। आंखें बड़ी ही रसीली, ममता से भरी थीं और चारु रूप से तराशी सी काली भौहें थीं।

"मैं आपसे ज़िंदगी में पहली बार मिल रही हूं।"

अपने होंठों की थरथराहट को रोकते हुए दूसरी स्त्री बोली:

"मैं कुरमोयारोवा हूं... डॉक्टर तुमसे मिलने आते हैं... मैं उनकी पत्नी हूं... ज़िला डॉक्टर..."

उन सुंदर, पिंगल रंग की सी आंखों में ऐसी वेदना, ऐसी पूर्ण निराशा थी कि गालीना ने अपना होंठ काट लिया।

"लेकिन, सुनिये तो, यह बात आपके दिमाग़ में आई कहां से? मेरी तो डॉक्टर से भेंट ही बहुत कम होती है। ऐसे ही अकस्मात कहीं हो गई तो हो गई और, आते-जाते में कुछ शब्द..."

कुरमोयारोवा इतने ज़ोर से हांफने लगी कि उसका सारा बदन अकड़ने लगा। उसने अपने कांपते हुए होंठ बहुत रोके कि कहीं मुंह से सिसकी न निकल जाये और बोली:

"यह सच है? .. मैं तुम पर विश्वास करती हूं—तुम सच्ची हो... पर, वह तुम्हें प्यार करते हैं..."

गालीना का चेहरा लाल हो गया।

"मैंने तो अपनी ओर से कभी कोई ऐसा संकेत या अवसर दिया नहीं... बात मेरी समझ में नहीं आती..."

"नहीं, नहीं... मुझे तुम पर किसी तरह का कोई संदेह नहीं है... उन्होंने कुछ कहा थोड़े ही है। शायद वह स्वयं भी इसका अनुभव इस तरह नहीं करते। वह बड़े ईमानदार और स्पष्टवक्ता आदमी हैं। जो कुछ कहते हैं सच-सच कहते हैं। हमारे आपस में संबंध बहुत ही अच्छे हैं। वह मुझे हर बात बतला देते हैं, हर बात, कहीं पांव धरते हैं, तो किसी से मिलते हैं, तो... तुम्हारे एक भाई है, और उसके कारण तुमने इस

गढ़े में भी काम करना मंज़ूर कर लिया है, तुम छुट्टियों में भी पढ़ाती हो। तुम बड़ी होशियारी से बच्चों को संभालती हो और वे बिना सज़ा के भी तुम्हारा कहा मानते हैं..."

"पर, मैंने तो इन बातों की डॉक्टर से कभी कोई चर्चा नहीं की।"

गालीना की तरफ़ देखा तो आगंतुका की आंखों में निराशा थी।

"यही... यही तो सबूत है... इसका संदेह तो स्वयं उनके मन में भी कहीं नहीं है। वह बड़े ईमानदार हैं। तुम्हारे बारे में सब कुछ जानते हैं, सब कुछ, अपने अनजाने उन्होंने तुमसे संबंधित हर बात मालूम कर ली है... वह कहते हैं—तुम ख़ूबसूरत हो..."

उसने गालीना की ओर ध्यान से देखा, और उसकी आंखें डबडबा आईं।

• "यह ठीक है... वह ठीक कहते हैं पर, मैं... मैं क्या करूं? इसका दोष क्या मेरे सिर है? मैंने कौनसी ग़लती की है? वह मुझे प्यार करते रहे हैं, और बहुत प्यार करते रहे हैं! और बच्चा... हमारे एक बेटा है... वह हमारे लिए सब कुछ है... लेकिन, मैं देख रही हूं, अच्छी तरह देख रही हूं उनको क्या हो रहा है। वैसे वह अब भी वही हैं, वैसे ही हैं ईमानदार, सच्चे। वह छिपाते कुछ नहीं, पर मैं समझ रही हूं, अनुभव कर रही हूं कि कुछ हो रहा है उन्हें। बात यह है कि उनके अंतर में छोटे से छोटा परिवर्तन भी होगा, तो मेरे से बचता नहीं। मैं सब कुछ सुनती हूं, मैं हर बात अनुभव करती हूं... हे भगवान!.. सिर्फ़ जब प्यार होता है, जब किसी को बहुत ज़्यादा चाहते हैं, तब उसके बारे में हर चीज़ का पता हो जाता है... मैं और वह... हम..."

चुप सिसकियों से उसका सारा शरीर कांपने लगा, और उसने थरथराते हुए होंठ कसकर भींच लिये।

गालीना की आंखें आश्चर्य से फटीं, और उस पर गड़ी की गड़ी रह गईं। उसने एक क्षण को भी निगाह न हटाई, पर अपने को संभालने की जी तोड़ कोशिश की। वह दिन, वह सूरज, वह धूप... वह सुबह सोकर उठी थी, चाय, बच्चे, शोरगुल, लिखाना-पढ़ाना, खाना, और हर दिन का सा क्रम, लगता था कि यह जो इस समय, इस क्षण हो रहा था, यह धीरे-धीरे हट जायेगा, और अवरुद्ध क्रम फिर अपनी साधारण गति पर आ जायेगा।

लेकिन, नहीं, यह हट नहीं जायेगा। उसके सामने की मेज़ के पास बैठी थी जवान औरत अपना नक़ाब ऊपर उठाये, औरत की आंखें सुंदर और विश्वासभरी थीं, काली बरौनियां रह-रहकर उन आंखों की कोरों से आंसू पोंछ लेती थीं, उसका चेहरा पीला होने पर भी असाधारणतया आकर्षक और सांचे में ढला सा बहुत ही सुंदर था।

कुरमोयारोवा पहले से ज़रा शांत लग रही थीं। "मुझे बुरा मत समझना – न तो मैं पागल हूं और न बेवकूफ़... पर, फिर भी... हे भगवान! .. मैं स्वयं नहीं जानती... तुम इस ज़बरदस्त अनुभूति को समझ सकती हो, तुम किसी को प्यार करती हो, तुमने अपने सारे जीवन की बलि चढ़ा दी है, और तुम्हारे पास कुछ भी बाक़ी नहीं बचा है... तुम्हें भी प्यार मिलता है, निश्छल और गहरा प्यार मिलता है, और यह तुम्हें मालूम होता है, तभी अचानक ही लगता है..." उसकी आवाज़ एकदम धीमी पड़ गई – "कि कोई चीज़ है, कहीं कुछ है, जो इस प्यार के आड़े आ रही है, वह प्यार हल्का पड़ रहा है, होते-होते प्यार टुकड़े-टुकड़े होने लगता है, ईंट-ईंट कर इमारत ढहने लगती है, जोड़-जोड़ खुल जाता है, कण-कण अलग हो जाता है, पर, तुम कुछ नहीं कर सकतीं, बिलकुल कुछ नहीं कर सकतीं। सब कुछ आंखों से देखती हो और तुम, तुम उंगली नहीं उठा पातीं। ख़तरा पास आता जाता है, और पास, और पास... सहना मुश्किल हो जाता है... लगता है कि जल्दी ही सब कुछ दब-कुचल जायेगा..."

वह उसे घूर रही थी, उसकी आंखें आशंका से भर उठीं और वह षड्यंत्री की भांति फुसफुसाने लगी:

"मेरी बात सुनो, मैं उनकी सांस-सांस पर निगाह रखती हूं, मैं उनकी छोटी से छोटी बात का ध्यान रखती हूं और उनका छोटे से छोटा काम ख़ुद करती हूं। अपने लिए उनके पास समय नहीं है, हर समय दौड़ते ही रहते हैं इधर-उधर, पत्र-पत्रिकाएं तक नहीं पढ़ पाते, – मैं तीन-चार पत्र-पत्रिकाएं ख़ुद पढ़ती हूं, और सारांश उन्हें बतला देती हूं। मैं बीमारियों के बारे में जाने कितना ख़ुद जान गई हूं, और न जाने कितने दवाओं के और चिकित्सा संबंधी शब्द मुझे याद हो गये हैं। मैं चिकित्सीय पत्र-पत्रिकाएं पढ़ती हूं और उनकी दिलचस्पी के लेखों पर निशान लगा देती हूं। मैंने अपना तनमन उन पर निछावर कर दिया है!

यह क्या मेरा दोष है? ..मेरा अपराध तो रत्ती भर भी नहीं है। वह मुझे प्यार करते हैं... और, अपराध कहीं कोई बच्चे का भी नहीं है..." वह सहसा ही मुस्करा उठी—"और, दोष तुम्हारा भी नहीं है... तुम सच्ची हो... उन्होंने मुझे बतलाया है... मैं जानती हूं..."

लड़की उसे उसी प्रकार दर्द भरी निगाहों से देख रही थी, और अनुभव कर रही थी कि यही सीमा-रेखा है जिसके पार कोई पांव नहीं रख सकता।

इसके बाद उसने निगाहें नीची कर लीं और राहत की सांस ली। उसने मन में सोचा:

"यही होता है, इस समय यह संकट **इसके सामने** उपस्थित है, साधारण रूप से सभी के सामने, सभी के जीवन में ऐसे क्षण आते हैं, पर, मैं, मैं अपनी ज़िंदगी में **यह पल** नहीं आने दूंगी।"

"कृपया मन शांत कीजिये, एक घूंट पानी पीजिये, यह लीजिये गिलास," वह बोली, "आप बेकार में तिल का ताड़ बना रही हैं। निकानोर सेर्गेयेविच से मेरी भेंट यों ही हो जाती है, कभी-कभी, सो भी दो-चार क्षणों के लिए, और, यह भेंट भी तब होती है जब वे यहां मरीज़ों को देखने आते हैं। आप निश्चिंत रहें, अब मैं पूरी सावधानी बरतूंगी, कि हम फिर कभी न मिलें। ठीक है।"

दूसरी औरत के होंठ कांपने लगे। उसने सहमी हुई नज़रों से देखा, और ऐसे हाथ फैलाये जैसे कि अपना बचाव कर रही हो: "नहीं, नहीं, नहीं... और चाहे जो करना, बस, यह मत करना... मैं अपनी ओर से कुछ भी न करूंगी। या तो वह सिर्फ़ मेरे होंगे—उनका सब—या हम एक-दूसरे से अलग हो जायेंगे..."

उसकी आंखें सूख गई थीं और चेहरा सख़्त और भावहीन हो गया।

"कभी नहीं, नहीं!"

गाड़ी चली। पहिये फिर दलदल मथने लगे। धीरे-धीरे सड़क के आख़िर तक जाकर ओझल हो गई।

गालीना कनपटियों पर हाथ रखे खड़ी रही।

"यह तो कुछ अच्छा नहीं हुआ... क्यों किया उसने यह सब? .. दोष क्या मेरा है? .."

शीशे में से लंबी-लंबी बरौनियों वाली भरी ग्रांखें ग्रौर नोकदार नाक उसकी ग्रोर देख रही थीं...

"हां, दोष तुम्हारा है।"

"लेकिन, मैंने तो न कभी कुछ ऐसा किया ग्रौर न कहा कि जिससे उसे किसी तरह का कोई संकेत मिलता।"

"ग्रपराधी हो।"

ग्रांखें नीचे किये वह क्षण भर खड़ी रही।

"क्या करना है, मुझे मालूम है।"

जीवन के बने बनाये निश्चित क्रम में कहीं से कोई परिवर्तन करना उसे सदा ही बहुत कठिन लगता था, जैसे कि सहसा सब तरफ़ से सब कुछ कट जाये। पर, जब उसने स्कूल छोड़ने का नोटिस दे दिया तो फिर सब कुछ बिलकुल सुगम ग्रौर ग्रासान हो गया। बस सामान बांधकर गाड़ी में बैठ जाना ही बाकी था।

वह ख़ाली कमरे के फ़र्श पर पिटारी लेकर बैठ गई, ग्रौर कपड़े, किताबें-कापियां, पोस्टकार्ड ग्रादि रखने लगी। ख़ाली दीवारें सूनी ग्रौर वीरान लगने लगीं।

परीक्षाएं कभी की हो चुकी थीं। उफ़, कैसा समय था वह! एक बुख़ार सा जैसे चढ़ा रहता था हर वक़्त। उसे ग्रौर उसके विद्यार्थी दोनों को ही पूरी शक्ति मेहनत करनी पड़ती थी। स्थानीय बोर्ड के ग्रध्यक्ष इम्तहान लेने ग्राये थे। उम्र से जवान थे ग्रौर बने-ठने, ग्रासपास के किसी बड़े घराने के थे। उन्होंने ग्रपने सीने पर यूनिवर्सिटी का बैज लगा रखा था। सदा दांत भींचकर बोलते थे, ग्रौर ग्राधी ग्रांखें मूंदे, बैठे-बैठे हर क्षण ग्रपने नाख़ून साफ़ करते रहते थे।

हां, एक घर छोड़कर दूसरा घर बदलने के समान ही सब ग्रासान हो गया। उस रात उसे बेकार के से विचार याद ग्राये जब उसने ग्रपने ग्रापको सात बच्चोंवाली विधवा के रूप में कल्पित किया था... ग्रौर वह मुस्करा दी।

वह ग्रौरत, जिसने उसे एक रूबल घूस देने की कोशिश की थी, वह बुढ़िया, जो घिनौनी बीमारी वाले ग्रपने बेटे को लेकर ग्रायी थी—

सारे के सारे लोग धुंधले चित्रों के रूप में कहीं दूर अस्पष्ट उमड़ रहे थे, पर बिना वैमनस्य के।

वासीली कई बार कमरे में आया, खड़ा रहा, पैर आगे-पीछे करता। और बाद में आह भरकर फिर बाहर चला गया।

इसी समय एक अबाबील उड़ती हुई अंदर आई, उसने जल्दी-जल्दी कमरे के दो चक्कर लगाये और फिर अपने पैने पंख समेटकर छत के एक कोने में चिपक रही। पर, इस बीच वह बराबर हांफती और बेचैनी से सिर इधर-उधर घुमाती रही। दूसरे ही क्षण ज़ोर से चीख़ी, और तीर की तरह खिड़की से निकल गई। खिड़की में से बाहर गरमी के शुरू-शुरू के दिनों की हरियाली दमक रही थी। मुर्ग़ियां चूं-चूं कर भाग रही थीं, और मुर्ग़े आवेश में कुक-ड़ू-कूं-कुक-ड़ू-कूं कर रहे थे। गांव के बाहर, दूर, कहीं कोई ख़ाली गाड़ी सड़क पर खड़खड़ाती जा रही थी।

दूसरी ओर, यहां कमरे में गालीना अपना सामान बांध रही थी, बिलकुल अकेली, जैसे बिलकुल अकेली रही है। एक क्षण के लिए जैसे किसी ने उसका कलेजा जकड़ लिया।

अबाबील फिर कमरे में उड़ती आई, फिर ज़रा देर को दीवार से सटी, और फिर उड़ गई। फिर दिन की धूप उसी तरह दमकी, फिर मुर्ग़ियां उसी तरह चूं-चूं करने लगीं। फिर दूर के जंगल का नीलापन झलका, और वहां गौरैयों के दल के दल बड़ी उमंग से चहचहाने लगे। इस तरह, पता नहीं क्यों, पर एक क्षण के लिए फिर जैसे सब आसान और आनंदमय हो गया।

फ़ेदोस्युश्का सहायता के लिए आई, और चीज़ें बेतरतीबी से पिटारे के कभी इस कोने में कभी उस कोने में ठूंसने लगी।

"नहीं, फ़ेदोस्युश्का, नहीं, इस तरह मत रखो... वह चीज़ वहां रखने की नहीं है।"

और, फ़ेदोस्युश्का छोटी-मोटी चीज़ें मांगने लगी–दांत के मंजन का ख़ाली डिब्बा, दवा की ख़ाली बोतल, पुराना रूमाल, कोई कपड़े का टुकड़ा।

वैसे तो यह चीज़ें किसी काम की नहीं थीं, पर यह देखने में अच्छा

नहीं लग रहा था। वह बराबर इधर-उधर नज़र दौड़ा रही थी कि कहीं क्या देखे, और क्या मांग ले।

और दूसरी औरतें भी कमरे में जमा हुईं। वैसे इन्होंने मुंह खोलकर मांगा तो कुछ नहीं, पर कुछ न कुछ पाने की आशा बराबर रखी। यही कारण है कि गालीना जिधर भी जाती, इनकी निगाहें भी उधर ही चली जाती थीं।

दो दिन बाद वह रवाना होने के लिए तैयार हुई। वासीली ने गाड़ी बुला दी थी।

सूरज ने मकानों की क़तारों के पीछे से झांककर अभी-अभी इधर देखा ही था कि बच्चों की आवाज़ें खिड़की के नीचे गूंजने लगीं। बच्चे तो गौरैयों जैसे होते हैं। कोई अवसर हो, चुटकी बजाते ही जमा हो जाते हैं।

वासीली एक-एक सामान बाहर लाने लगा। अब मांगने को तो वहां कुछ नहीं था, पर इस पर भी फ़ेदोस्युश्का आई, और रास्ते के लिए कुछ समोसे अपने साथ लाई थी।

बाहर सड़क पर स्कूल के बरामदे से चिल्लाने की आवाज़ें आ रही थीं।

"तुम मेरी गाड़ी रोके क्यों खड़े हो?"

"छोड़ दो गाड़ी! तुम्हें किसने बुलाया है?"

"जाने दो! जाने दो!"

"ऐसा ठोंसा दूंगा कि तुम्हारा मुंह फिर जायेगा, समझे न!"

"जानते हो, पिछली बार मैंने जिसे एक हाथ जमाया था न, वह दूसरे दिन मर गया था।"

वासीली ने बीच-बचाव किया :

"तुम अपनी टांग क्यों अड़ा रहे हो, इपात? तुम्हें तो किसी ने बुलाया भी नहीं। जाओ, जहां से आये हो वहीं लौट जाओ।"

गालीना ने खिड़की से झांककर देखा – वासीली, स्टेशन पहुंचाने के लिए ख़ास तौर पर बुलाया गया गाड़ीवान, और इपात – तीनों ही उसकी डलिया पर क़ब्ज़ा करने की कोशिश कर रहे थे। वे तीनों ही उस पर बंधी रस्सी को अपनी-अपनी ओर खींच रहे थे। और सब दिशाओं से उनके खींचे जाने की कोशिश में डलिया चरमरा रही थी और ज़मीन पर लुढ़क रही थी। तमाम औरत-मर्द जमा हो गये और भीड़ बराबर बढ़ती ही गई।

गालीना अचरज करने लगी। उसकी समझ में कुछ भी न आया। वह बाहर निकलकर बरसाती में आई, तो उसने एक के बजाय दो गाड़ियां देखीं। पूछा :

"बात क्या है आख़िर?"

सामने वही लंबा सा जवान खड़ा था, जिसने एक शाम को उसका ख़ासा अपमान किया था, पर उसने किसी से इसके बारे में नहीं कहा था—फ़ायदा भी क्या था? उसने वासीली और उस गाड़ीवान से झटककर डलिया ले ली थी और उन्हें कुत्तों की तरह, चाबुक के ज़ोर से दूर ही रोक दिया था। डलिया को घसीटकर अपनी गाड़ी के पास ले जा रहा था।

"क्या मतलब? तुम यह कर क्या रहे हो?"

आदमी रुका और डलिया को एक तरफ़ से पकड़े-पकड़े क्रोध से भरी आंखें ऊपर कर गालीना की तरफ़ देखते हुए बोला :

"गालीना अलेक्सांद्रोव्ना, इनसे कहिये कि बेकार की बड़बड़ बंद करें। कुत्तों की तरह भूंक रहे हैं, मुझे अपना काम नहीं करने देते।"

"पर, तुमने डलिया हाथ से छुई कैसे? दो, उसे वासीली को दे दो।"

"उसकी गाड़ी तो भाड़े पर मंगाई नहीं गई!" भीड़ के बीच से लोग चिल्लाये।

"किसी ने उससे कुछ भी तो करने को नहीं कहा—वह सब कुछ अपने मन से करता जा रहा है।"

"इपात, तुम्हारा दिमाग़ ख़राब हो गया है, गाड़ी उसकी किराये पर मंगाई गई है और चिल्ला-चिल्लाकर तुम आसमान सिर पर उठाये ले रहे हो।"

इपात क्रोध से घूमा, पर डलिया की रस्सी वह अब भी अपनी मुट्ठी में ही कसे रहा। ग़ुस्से से जलती उसकी आंखें और भी अधिक काली लग रही थीं।

"तुम दूसरे की तरफ़ से क्यों गला फाड़ रहे हो? तुम्हें कितना मिला है?"—उसने बनी-संवरी दाढ़ीवाले गाड़ीवान से पूछा।

"मुझे कितना मिला है?" उसका मज़ाक़ बनाते हुए दूसरे ने कहा। "मैंने चालीस वेर्स्ता के पांच रूबल मांगे हैं, ज़्यादा है न? मैं क्या उसको

लूटे ले रहा हूं? लौटने पर एक दिन तो ख़ाली रहना पड़ेगा, इतनी दूर आने-जाने के बाद घोड़ा आराम भी तो करेगा।"

"यह तो कुछ भी नहीं है," किसान बड़बड़ाये।

"और मैं तो एक कोपेक भी नहीं मांग रहा," चाबुक की मूंठ से अपना सीना ठोंकते हुए जवान बोला। "उनसे एक कौड़ी भी ले सकता हूं क्या?"

"यह दूसरी बात है।"

"उन्होंने सदा हमारी भलाई की है।"

"एक शब्द भी तो उन्होंने नहीं कहा किसी के ख़िलाफ़।"

"करने दो उसे कुछ उसके लिए।"

जैसे कि झगड़ा तय हो गया। जवान ने पिटारी गाड़ी पर चढ़ाई और उसे ठीक से जमाने लगा। उसकी कोहनियां बराबर बाहर की ओर निकली थीं।

गालीना परेशान सी खड़ी रही। जवान की हर हरकत से विश्वास था। उसे यह कहने की हिम्मत नहीं हुई कि इसके साथ जाने में ज़रा डर है।

"सुनता है बे, काने, उठा दे बाक़ी चीज़ें, गाड़ी में पीछे की तरफ़ डाल दे।"

जवान ने उसके बैठने के लिए विशेष व्यवस्था की। उसने रस्सी के नीचे ख़ूब सारी सूखी घास बिछा दी, कि रस्सी से रगड़ न आये उसे।

"सुनो, मैं नहीं चाहती कि कोई मुफ़्त में मुझे स्टेशन ले जाये। गाड़ी तो दूसरी भाड़े पर मंगाई गई थी, तुम क्यों अपनी गाड़ी ले आये?"

"उससे लड़ने से क्या फ़ायदा?" वासीली बोला। "वह नादान है। अच्छा हो कि आप उसी की गाड़ी में चली जायें। और, येवसेइच, तुम अपना घोड़ा खोल दो। इपात का घोड़ा तेज़ है, वह और जल्दी पहुंचा देगा। और फिर, इपात बिन बदले ही कुछ अच्छाई करना चाहता है— इसी लिए बहस करना बेकार है।"

"इपात का घोड़ा कहीं अच्छा है, वह ठीक-ठाक पहुंच जायेगा," भीड़ ने वासीली की बात का समर्थन किया।

"ठीक है, तो इपात ही चला जाये।"

इपात ने सारा सामान गाड़ी में रखकर रस्सी से कस दिया। पर,

गालीना उसी तरह हैरान खड़ी रही। उसने फिर वही ज़ोर का अनजाना दर्द अनुभव किया, भीड़ में वह फिर अकेली है। विरोध करने से उसे कोई रोक रहा है।

"येवसेइच, यह लो, तुमने इतनी तकलीफ़ उठायी है।"

येवसेइच ने आधा रूबल मुंह में लेकर गाल में दबाया और गाड़ी पर बैठ गया। गाड़ी सड़क पर खड़खड़ाती चली गई।

इपात की गाड़ी में सब कुछ बंध-बुंध गया। अब जाने का समय था। उसका मन पसीज उठा। क्लास और अपने छोटे वीरान कमरे को चलते-चलते भर आंख देख लेने को उसका जी कलपा। आख़िर वह कमरा ही तो उसके सारे भाव, सपने, आशाएं, दर्द और तनहाइयां देखता-समझता, और चुपचाप पचाता रहा था। जैसे उसने उस पिछली लड़की के आंख के आंसू भी सहेजे थे। वासीली न होता तो उसके बारे में यह जाननेवाला कोई भी न होता।

"विदा, वासीली, ईश्वर तुम्हें सब कुछ दे, तुम्हारा मंगल करे। और, यह लो... धन्यवाद! धन्यवाद! तुमने मेरे लिए बहुत कुछ किया है!" उसने वासीली का भद्दा गांठ-गंठीला हाथ अपने हाथों में ले लिया, और बड़े स्नेह से दबाया।

वासीली ने नाक चढ़ाकर और एक आंख से उससे दूर कुछ देखते हुए कहा:

"आपको जाना नहीं चाहिए। आप तो यहां क़ायदे से रह सकती थीं। दुनिया भर में भटकने से कोई फ़ायदा नहीं। लोग यहां भी तो शादी-ब्याह करते ही हैं, और वे बाक़ी दुनिया से किसी मानी में उन्नीस भी नहीं ठहरते।"

"अलविदा, वासीली।"

वह सड़क पर गई। गाड़ी में बैठने का समय हो गया था। औरत-मर्दों की भीड़ हर बात से उदासीन रहनेवाली अभी तक वहीं खड़ी थी। किशोरियां सूरजमुखी के बीज चबा रही थीं, अभी ज़रा देर पहले बच्चे, उसके विद्यार्थी इस समय एक-दूसरे के पीछे दौड़ रहे थे, और चीख़-चिल्ला रहे थे।

उसने एक बार गाड़ी पर निगाह डाली यह देखने के लिए कि हर चीज़ रख दी गई है। पर, उसने देखा कि गाड़ी में कहीं उसके बैठने की

गुंजाइश तो है ही नहीं—थैले-थैलियों, फटे टुकड़ों में लिपटी चीज़ों से ही सारी जगह घिर गई है।

"यह सब क्या है? यह तो मेरी चीज़ें नहीं हैं—यह यहां क्यों रखी हैं?"

जवाब में शराबी जैसे फूले हुए चेहरेवाली एक औरत आगे आई, और अपना कड़ा-मज़बूत हाथ गाड़ी के कटहरे पर रखते हुए बोली:

"ये गोश्त के समोसे, और ऐसी ही थोड़ी-बहुत दूसरी खाने-पीने की चीज़ें हैं। हमने ख़ास तौर से रास्ते के लिए आपके लिए तैयार की हैं। खा लीजियेगा। ईश्वर आपका कल्याण करे।"

"और, यह मेरी तरफ़ से लीजिये," बांह पर बच्चा लटकाये दूसरी औरत बोली। "आपने मेरे वान्या को लिखना-पढ़ना सिखाया है, परमात्मा आपको सदा स्वस्थ रखे।"

"कोई बात नहीं—खा लीजियेगा," गोद में बच्चा उठाये एक और औरत ने कहा। यह वह थी जिसने अपने बच्चे का दाख़िला न होने पर उसे बुरा-भला कहा था। "रास्ता लंबा है—कुछ खाने को तो मन करेगा ही। जिसके पास जो था, वही ले आया है। अगर आप यहां रह जातीं तो मेरे वास्या को लिखना-पढ़ना तो आ ही जाता।"

इस बीच विद्यार्थी-बच्चे गाड़ी के आसपास जमा होने लगे। उसने इन बच्चों, औरतों, मर्दों को अचरज से देखा।

जिस पीले चेहरेवाली लड़की के परिवार के लोगों को गरमी की बीमारी थी, उस पर उसकी निगाह पड़ी तो उसने बड़े संकोच से हकलाते हुए कहा:

"फ़े-फ़े-फ़ेदूल च-च-चचा के पा-पा-पास एक जं-जं-जंगली हंस है।"

अचानक ही उसके पतले-पतले होंठ थरथराये और आंखों में आंसू छलक आये:

"आ-आ-आप जा रही हैं, मु-मु-मुझे ब-ब-बड़ा दुख है..."

"क्या ये वही सब लोग हैं?" गालीना ने अपने-आप से पूछा। "कहां से आये हैं ये सब?.. कौन हैं ये? मैंने तो इन्हें पहले कभी नहीं देखा..."

ऐसा लगा जैसे कि उनके बीच की पतली दीवार ढह गई। उन

सबने उसे चारों ओर से घेरकर एक साथ बोलना शुरू कर दिया। औरतें रूमालों के कोनों से अपनी आंखें पोंछने लगीं।

"जो चाहती हो, ईश्वर तुम्हें सब कुछ दे..."

उसके अंदर कहीं एक क्षण को एक धुंधला सा विचार कौंध सा गया :

"ऐसा ही व्यवहार तो इन्होंने उस दिन निकीफ़ोर लुकीच के साथ भी किया था..." पर, जल्दी ही ग़ायब हो गया।

"तुम्हारी यात्रा मंगलमय हो!"

"हमारी शुभकामनाएं तुम्हारे साथ हैं!"

मास्टरनी के अंदर ख़ुशी की सिहरन सी दौड़ गई। उसे फिर लगा कि यह सब तो बिलकुल पहले से अनजाना है, उसने लड़की को अपनी ओर खींचा, और उसके होंठ चूम लिये।

अब औरतों की पारी आई। उन्होंने अंगूठे और तर्जनी से अपने होंठों के सिरे पोंछे, और आगे बढ़कर गालीना को चूमा। लड़कियों ने भी उसका चुम्बन लिया। पर, लड़कों ने विदा के लिए अपने हाथ उसकी ओर बढ़ा दिये।

आख़िरकार जब वह गाड़ी में जा बैठी, तो वह धुंधले एकाकार दिखते एक से दूसरे चेहरे को अलग नहीं पहचान पा रही थी। फिर एक के बाद एक औरत ने उसकी गोद में कुछ-कुछ रखा – केक, टिकियां और गाजर के समोसे – जाने क्या-क्या!

"हमारी शुभ-कामनाओं सहित, बेटी।"

गालीना ने लज्जा का अनुभव किया। पर, अपने कांपते हुए होंठों को संभालते हुए आभार प्रकट किया :

"धन्यवाद, धन्यवाद, प्यारे मित्रो... छिः, आख़िर यह हो क्या गया है मुझे?.."

"और, देखो, इपात, इन्हें ठीक-ठाक, सही-सलामत पहुंचा देना!.. घोड़ा अच्छा है, रास्ते में कोई मुश्किल नहीं होगी," लोगों ने गाड़ी के चारों ओर जमा होते हुए कहा। इपात अपनी जगह पर बैठ गया।

"'गीले कोने' पर रुककर घोड़े को पानी पिला लेना।"

"ध्यान रखना, चिकने ढाल के पासवाली दलदल में गाड़ी मत धंसा देना, दाहिने जाना बराबर।"

"मैं जानता हूं," इपात ने अपने नीचे की लगाम की रस्सियां समेटते हुए विश्वास के साथ कहा, और लोगों की ओर हिक़ारत से देखा।

"अच्छा, तो विदा! .."

"रोको! .. ए रोको, रोको! .."

औरतों ने पीछे मुड़कर देखा और गाड़ी थाम ली। दूसरे ही क्षण एक नन्हीं बच्ची झपटती आई और उसके पीछे-पीछे तेज़ क़दम बढ़ाती हुई एक बुढ़िया। बुढ़िया ने पास पहुंचकर पतला, पर पोढ़ा हाथ गाड़ी के बांस पर रखा, और बुढ़ापे से धुंधली, दूधिया आंखों से गालीना को देखा।

बच्ची बुरी तरह हांफ रही थी। बोली:

"मैं ले आई हूं इन्हें!"

इन दुधिया आंखों की स्मृति गालीना के दिमाग़ में कहीं अच्छी तरह जमी हुई थी, पर उसे याद नहीं आ रहा था कि आख़िर मैंने उन्हें देखा है, तो कहां देखा है? बुढ़िया अपनी बुद्धिमान, शांत आंखों से उसे देखती हुई बोली:

"क्यों, तबीयत तो ठीक है न, बेटी?"

यह आवाज़ मैंने कहां सुनी है पहले?

सारी औरतें एक साथ बोल पड़ीं:

"बड़ी अम्मा, ऐसा तंतर-मंतर करो कि यह सारे हाकिम-हुक्काम बरबाद हो जायें। यही तो खदेड़े दे रहे हैं इन्हें यहां से... मंतर फूंककर मारो कि ये आसानी से उनसे पेश आ सकें..."

तब उसे याद आई–वह रात, जलन, घंटियों का बजते ही जाना, अंधेरे में पोस्टकार्डों का झलकना और ग़ायब हो जाना, किताब की आड़ से आती रोशनी और अजीब एकरस बुढ़िया का फुसफुसाना।

"मैं अच्छी हूं, बड़ी अम्मा!"

"इससे कुछ नहीं होता, यह कोई बात नहीं है," औरतें चीख़ीं, "बड़ी अम्मा, बस तुम मंतर पढ़कर मारो इन हाकिम-हुक्कामों के ख़िलाफ़, वे ही खदेड़ रहे हैं इन्हें... कोई चिंता न करो, तुम्हारे मंत्र से इनका बहुत भला होगा।"

जल्दी से जल्दी जाने के लिए गालीना मंत्र सुनने को तैयार थी, पर, शागिर्दों के सामने अंत्र-मंत्र सुनने में उसे शर्म आ रही थी। परंतु, औरतें उसी तरह गाड़ी का बांस थामे रहीं, इपात ने जाने का कोई इरादा नहीं दिखाया और मर्द उसी प्रकार हलके-हलके हंसते रहे।

"औरतें तो वह करेंगी कि..."

"बिलकुल, ये अफ़सर इन्हें यहां रखेंगे थोड़े ही। कोई अच्छा आदमी कहीं से आया कि उन्होंने उसे भगाया..."

"पर, यहां से जाने के लिए तो मैंने स्वयं अनुरोध किया था... मैंने ख़ुद नोटिस दिया है..."

"सो, तो हम जानते हैं, वे तुमसे लिखवायेंगे, तो तुम्हें तो लिखना ही पड़ेगा..."

"कोई बात नहीं, बड़ी अम्मा को कर लेने दो अपना जंतर-मंतर, उससे नुक़सान भी क्या होगा..."

"तुम्हारा कुछ भी बिगड़ेगा नहीं..."

बुढ़िया बुदबुदाने लगी। नीरस सी फुसफुसाहट गालीना ने सुनी। दूध सी सफ़ेद आंखें उस पर गड़ी रहीं, और बुढ़िया का पतला, झुर्रियों से भरा हाथ जल्दी-जल्दी क्रॉस बनाने लगा।

"...पहली बार, पहली बार... मैं तंतर कर रही हूं, मंतर जगा रही हूं... चरागाहों के बीच, सड़कों के बीचोंबीच एक हमाम है, हमाम में कोने नहीं है..."

वह करती क्या? बुढ़िया का हाथ एक ओर को झटककर इपात को गाड़ी बढ़ाने के लिए कह देना तो उचित न होता।

"...मैं तंतर करती हूं, मैं मंतर जगाती हूं कि खाने में, बोलने में, बिस्तर पर लेटे-सोये उसका जी दुखे, उसके मन में दर्द हो, वह रहम करे और हमेशा बचाये..."

बुढ़िया ने गाड़ी के ऊपर से हाथ हटा लिया, और अब भी सफ़ेद आंखों से देखते-देखते सलीब का निशान बनाया।

"आमीन! ईश्वर तुम पर कृपा करे..."

इपात ने घोड़े पर ज़ोर से चाबुक जमाया। पहिये खड़खड़ाये। गालीना ने अंतिम बार स्कूल की ओर देखा—वासीली अब भी बरामदे

में खड़ा था। जैसे उसने गालीना से, रो-रोकर कमरे में घुटकर मर जानेवाली लड़की की चर्चा की थी, और अधिकारियों पर लोटनेवाले, पर अपने बच्चे के मुंह में तकिया ठूंस देनेवाले लोगों की बात की थी, उसी तरह अवश्य ही वह बाद में दूसरों से गालीना के वहां से चले जाने की कहानी भी कहेगा।

वह पुरानी इमारत, वह बाग़ और वे बर्च के पेड़ सब इस समय बहुत ही अपने से लगे।

भीड़ अब भी स्कूल के पास खड़ी थी। चीख़ते-चिल्लाते, सीटियां बजाते लड़के गाड़ी के पीछे-पीछे दौड़ रहे थे। राह के दोनों ओर के जाने-पहचाने मकान एक-एक कर पीछे छूटते रहे।

"तुम क्या दोबारा नहीं आओगी इनके पास, जिन्हें तुम्हारी ज़रूरत है?"

एक आवाज़ ने कहा:

"नहीं... वह जीना चाहती है!.."

कोई पीछे से ज़ोर से चिल्लाया। वे रुक गये। पादरी की पत्नी हड़बड़ाती हुई दौड़ी आई, उनका चेहरा तमतमाया था। गालीना गाड़ी से नीचे उतर आई। लोग फिर जमा हो गये।

"और, मैंने तो सोचा कि," पादरी की पत्नी ज़रा हांफते हुए बोलीं, "कि तुम चली गईं, और मेरी भेंट तुमसे नहीं हो सकी। मैंने सुना था, कल तुम हमारे यहां गई थीं, पर हम लोग घर पर न थे; — पादरी साहब के साथ बाग़ में चले गये थे, वह तो इस समय भी वहीं हैं, स्नेह और आशीर्वाद भेजा है उन्होंने तुम्हें!"

"इन्हें सच में ही देर हो गई समझो," भीड़ में से किसी की स्नेहभरी आवाज़ आई।

"प्रभु और मरियम माता तुम्हारा कल्याण करें!"

पादरी की पत्नी ने ख़ामोश खड़ी लड़की के सीने पर कई बार सलीब बनाया और प्यार से कस लिया।

आंखों में छलके आंसुओं को रोकते हुए उसे छाती से लगाकर गालीना ने कहा:

"आप... आप तो मेरी मां की तरह हैं... और, हां, यह किसलिए है?"

"ठीक है, तुम्हें ज़रूरत पड़ेगी इसकी, रास्ते में सारा दिन लग जायेगा," पादरी की पत्नी ने गालीना को गाड़ी में बैठाया और एक काग़ज़ का थैला उसे थमा दिया।

गाड़ी फिर चली। ज्यों ही घोड़ा गांव से खेतों की ओर मुड़ा, त्यों ही सब कुछ दूरी में खो गया। सड़क के सिरे पर स्थित स्कूल, गोद के बच्चोंवाली औरतें और पादरी की पत्नी आदि सब कुछ धुंधला-धुंधला सा लगने लगा। पादरी की पत्नी अब भी अपना सफ़ेद रूमाल हवा में लहराती रहीं। पर, अब रूमाल दूर से कठिनाई से ही नज़र आता था।

गाड़ी एक ख़ाली जगह से गुज़री, तो नरकट के बीच दलदल का पानी दूर से चमका। फिर घोड़ा सामने का चढ़ाव पार कर कंकरीले रास्ते पर आया। यहीं, अचानक ही, खुली बग्घी पर सवार पादरी दिमीत्री दूसरी ओर से आते नज़र आये। चौराहे पर रुके और उतर पड़े। इपात भी रुका, बेमन से नमन करने के लिए झुका, और सिर से टोपी उतारी।

"यह भी भाग्य की ही बात है," पादरी साहब बोले, "मैं तो घर जा रहा था, कोई चीज़ छूट गई थी।"

उन्होंने आकाश की ओर देखा और बोले:

"तो... तुम जा रही हो?! हुं!.. हम अकेले रह जायेंगे यहां..." यह आवाज़ गालीना की परिचित गंभीर ध्वनि से कहीं कमज़ोर थी।

इस समय वह गायक नहीं रह गये थे और न ही धर्म-विज्ञान की सेमीनरी के सुंदर विद्यार्थी। वह थे मात्र गांव के पादरी। इस समय तो जैसे उनका क़द भी कुछ छोटा हो गया था।

"हां, हम अकेले रह जायेंगे यहां।"

उन्होंने अपने बड़े-बड़े हाथों में गालीना का छोटा हाथ कस लिया।

"ख़ैर, ईश्वर तुम्हें... हां, ईश्वर तुम्हें... सुख-संतोष दे..." उन्होंने उसका हाथ अपने होठों तक उठाया और चूम लिया।

गालीना का चेहरा लाज से लाल हो गया। इपात चाबुक से अपने ऊंचे जूतों की गर्द झाड़ने लगा।

पादरी दिमीत्री अपनी बग्घी में बैठे, एक बार फिर मुड़कर गालीना को देखा, फिर सवारी गांव की तरफ़ बढ़ चली।

इपात ने भी अपनी गाड़ी हांकी, पर मुड़-मुड़कर पीछे देखता रहा। एक बार फिर पीछे देखने के लिए बक्से पर खड़ा हुआ और फिर हंसकर बैठ गया।

"चढ़ाव की दूसरी तरफ़ पहुंचने पर पादरी साहब बाग़ की ओर मुड़ गये। गांव जाने की बात कहते हुए तो वह बहाना बना रहे थे, आपके सामने झेंप रहे थे, अब वह बाग़ के रास्ते जा रहे हैं। बढ़ बे घोड़े, बढ़! .."

"पादरी साहब अपनी पत्नी से बहुत डरते हैं, मौत का सा डर लगता है," गालीना की ओर मुड़ते हुए इपात ने बड़े मज़े से कहा।

लंबी-लंबी टांगोंवाला घोड़ा बेढंगा सा लगता था। वह बमों के बीच बग़ल-बग़ल दौड़ रहा था और पट्टी के नीचे से मुड़कर इपात को देख लेता था। इपात हर तरह की तरकीबें करता, इस तरह चाबुक फटकारने की कोशिश करता कि उसका ध्यान न जाये, पर वह कितनी ही तरकीबें से कभी इधर से कभी उधर से चाबुक घुमाता, घोड़ा मुड़कर अपनी बड़ी-बड़ी, काली-काली ढीठ आंखों से उसकी ओर घूर ही लेता, ज़ोर से नीचे को पूंछ फटकारता और लगभग रुक सा जाता कि चाबुक अब पड़ा और तब पड़ा। इसके बाद ही दुम फटकारता और बग़ल-बग़ल दौड़ने लगता। इपात दूसरी ओर से कितनी ही ज़ोर से खींचता, पर घोड़ा उसी तरह मालिक को देख ही लेता था। इस पर इपात बुरी तरह खीझ उठता, और सड़ासड़ चाबुक जमाने लगता। नतीजा यह होता कि घोड़ा बिलकुल अड़ जाता, और मालिक की ओर देखता रहता कि ग़ुस्सा ख़त्म हो तो आगे क़दम बढ़ाये।

गालीना को फ़ेन्या के चूमने का ध्यान आया, और साथ ही इस बात का भी कि उसका चेहरा विवर्ण था और उसके परिवार में गरमी की बीमारी है। दूसरे ही क्षण उसने रूमाल निकाला और अपने होठों पर ख़ूब ज़ोर से रगड़ा। उसने दूसरी औरतों को भी तो चूमा है। और फिर गाल और होठों को रगड़ना शुरू किया।

हरे-भरे जंगल में या कहीं पीछे मच्छरों की हलकी भनभन सुनी जा सकती थी। यह भनभन ज़रा देर तक सुनाई पड़ी। इसके बाद बंद हो गई।

सड़क पर सामने पड़ती जड़ों के ऊपर से गाड़ी गुज़रती, तो रह-रहकर पहिये खड़खड़ा उठते, और धचके से लगने लगते।

जहां-जहां पेड़ गिरा दिये गये थे, वहां-वहां छोटी-छोटी झाड़ियों की हरियाली धूप में दमक रही थी। दूर नज़र दौड़ाने पर जंगल की लंबी, अछूती दीवार सी झिलमिलाती दिखलाई पड़ती थी।

"फ़ेन्या की मां ने रास्ते के लिए केक भी दिये थे, कहां हैं वे? यहां तो इतनी चीज़ें हैं कि अलग-अलग पहचानना मुश्किल है... हां, वह नकियानेवाली तथा मवादभरी पलकों वाली औरत थी..."

सड़क के दोनों ओर के नन्हें-नन्हें ब्ल्यू-बैल फूल हवा में सिर हिलाकर हलकी, पकड़ में न आनेवाली टुनटुनवाली घंटियां बजा रहे थे।

"और दूसरों ने भी तो चीज़ें दी हैं... कौन बीमार है, या कौन नहीं, यह कोई कैसे बता सकता है? कई बार तो उन्हें ख़ुद ही मालूम नहीं होता।"

एक जवान पेड़ पर, जो किसी तरह बचा रह गया था, एक तूती हर्षपूर्वक चहचहा रही थी।

इपात से आंख बचाते हुए गालीना ने ऊपर से पहला बंडल उठाया और सारे केक और समोसे सड़क पर गिरा दिये। एक एक करके उसने बस पादरी की पत्नीवाले बंडल के अलावा अन्य सभी बंडलों से छुट्टी पा ली।

इसी समय एक बार फिर हवा में तिरती घंटियों की टुनटुनाहट सी आई, ज़रा देर तक गूंजी और फिर बंद हो गई। अब यह निश्चित हो गया कि यह घंटियां ब्ल्यू-बैल फूलों की नहीं हैं।

"लगता है, उन्होंने तो इतनी कृपा की और मैं उन सभी को चित्त से उतार देने की कोशिश में हूं... यह तो बुरी बात है। जैसा मैंने सोचा था वैसा कुछ नहीं है... इस समय मैं इपात के साथ गाड़ी में चली जा रही हूं, और मुझे डर नहीं लग रहा... बेचारे पादरी साहब... और उनकी वह पत्नी, बेचारी अच्छी औरत है, पर देखते ही पता चल जाता है कि वह पादरी की पत्नी हैं... कैसी बुरी बात है इन सब को छोड़कर चल देना... उन्हें कोई नहीं जानता, मैं भी नहीं जानती। उफ़, काश कि मैं लेखक होती! .. पर, यह सब तो कुछ ऐसा है जिसे आप लिख नहीं सकते, जिसके क़िस्से-कहानियां नहीं गढ़ सकते, इसके लिए तो आपको यहां पर आना होगा... कितनी सारी घंटियां हैं... कोई आ रहा है..."

निश्चय ही यह गाड़ी के पट्टे से लटकनेवाली पीतल की घंटी है। कभी तो वह बिलकुल पास आई लगती थी और कभी सुबह की ताज़गी में डूबी दूरी में खो जाती थी।

"कोई जोड़ी है यह!" इपात ने बिना मुड़े कहा।

जंगल में पहुंचने पर आवाज़ें हलकी, पर उल्लसित हो गईं। सूरज की किरणें जंगल के पेड़ों और घास पर सोना बिखेरकर चित्रकारी सी कर रही थीं।

"अच्छा, बस, मेरे चातक, मेरे छोटे सुनहले लाड़ले! .. वाह रे मेरे पंछी!"

इपात ने मारपीट बंद कर धीरे-धीरे पुचकारकर फुसलाना शुरू किया। अब वह जब-तब चाबुक केवल हवा में सटकार देता था।

पर, उस लंबी टांगवाले घोड़े पर इसका भी कोई असर नहीं पड़ा। वह अब भी दुलकी चाल से बग़ल-बग़ल चल रहा था, जैसे कि बमों से बाहर निकल जाना चाहता, और उलट-उलटकर अपनी बड़ी, काली, ढीठ आंखों से इपात की ओर देखने लगता था।

"ओह, मेरे चीनी के डले! .."

गालीना सूखी घास के आसन पर बैठी ताल सी में हिचकोले ले रही थी। नीली परछाइयां और सुनहली धूप धीमे से आते और धीरे से उसके चेहरे के पार तैर जाते। नींद से उसकी पलकें झपने लगीं, और बहुत कोशिश करने पर भी सोने की इच्छा उसके दबाये न दबी।

होते-होते सारा जंगल घंटियों की आवाज़ से गूंज उठा, और बनफ़शा के फूलों की गंध से महक उठा। सड़क के दोनों तरफ़ लाल तनोंवाले चीड़ों की क़तारें खड़ी थीं।

चिड़ियां मनुष्यों के से सुर में चहचहा रही थीं, हर समय वही "यहां-यहां-यहां ... यहां है ..." एक और चिड़िया तेज़ी से दोहरा रही थी: "स्तिच-स्तिच-स्तिच ... स्तिच-स्तिच! .." दूसरी चिड़ियां निराले स्वर से बांसुरी की तान छेड़ रही हैं, पर, हर वक़्त तान एक ही है, लगता था कि अंत के बोल भूल गई थीं, बार-बार शुरू के बोल दोहरा रही हैं।

गालीना ने महसूस किया कि उसका सिर झोंके खा रहा था और उसकी छाती पर झूल गया था।

"बुरी बात है, ऐसा भी क्या! .." पर नींद आई, सो आई– हटाये नहीं हटी।

"हा-हा-हा! .. यह रही वह! .." एक भयानक आवाज़ कान में आई, और जंगल की अब तक की सारी गूंज, और बोल-आवाज़ अचानक ही उसके सिर पर आ टूटी।

उसका दिल जाने कैसे डर से धड़कने लगा कि मन संभाले नहीं संभला। वह उछल सी पड़ी।

इपात गाड़ी के पास खड़ा खीसें काढ़ रहा था। घोड़ा मुड़कर नहीं देख रहा था, बल्कि चुपचाप जहां का तहां खड़ा था। उसके कान खड़े थे और खाल फड़क रही थी।

"हे भगवान! मैं इसके साथ यहां अकेली हूं।"

"तुम्हें क्या चाहिए, इपात? .." वह हकलाई।

उसके पीछे, और सिर के ऊपर घंटियों की गूंज से उसके कान के परदे फटने लगे।

उसने पीछे की तरफ़ देखा–गाड़ी के कटहरे पर से, तो उसे बम में जुते घोड़े का हिचकोले खाता सिर नज़र आया। उसकी बराबर में एक और घोड़ा जूता था, जो अपने आगे निकले अगले पैर से मुंह रगड़ रहा था। दोनों घोड़े हांफ रहे थे और उनके लाल नथुने रह-रहकर फूल और सिकुड़ रहे थे।

डॉक्टर उसकी ओर आया–वही चौकोर सिर, वही गाल की उभरी हुई हड्डियां, वही फूला हुआ शरीर।

"नमस्ते। मैं तो डर रहा था कि शायद आपको पकड़ नहीं पाऊंगा।"

गालीना ने जल्दी-जल्दी अपनी स्कर्ट और बाल ठीक किये और नींद भगाने के लिए मुंह पर हाथ फेरा।

"गाड़ी में ऐसे हिचकोले लगे कि इन्हें नींद आ गई," इपात ने अब भी खीसें निकालते हुए कहा।

"आइये उतर जाइये, चलिये, थोड़ा सा पैदल चलें," डॉक्टर बोला, "घोड़ा यहां दुलकी चल भी तो नहीं सकता," और, उसने उसकी ओर ऐसे हाथ बढ़ाया जैसे कि उसे गाड़ी से उतरने में मदद देना चाहता हो।

गालीना हड़बड़ाकर गाड़ी से कूद पड़ी कि डॉक्टर को उसे सहायता देने का अवसर ही न मिले।

डॉक्टर का साईस उसकी गाड़ी में जाने क्या ढूंढ़ रहा था। अब वह अपने हाथों में टिकियां और समोसे लिए हुए उनकी ओर आया।

"आपकी गाड़ी ने बहुत झटके खाये होंगे—ये सारी चीज़ें सड़क पर पड़ी हुई थीं।"

"अरे, ये तो हमारी चीज़ें हैं! .." इपात चिल्लाया। "सारे गांव के लोगों ने इनके लिए चीज़ें तैयार की थीं। सो, गाड़ी के छेद में से सब की सब गिर गई होंगी। सिर्फ़ पादरी की पत्नीवाला थैला बाक़ी रह गया है यहां... लाइये, मुझे दीजिये।"

गालीना पिओनिया फूल की तरह लाल हो गई।

"ये चीज़ें गिरीं कैसे? .. नहीं, इपात, अब इनकी ज़रूरत नहीं है। बुरी तरह गर्द-मिट्टी भर गई होगी... इनका क्या होगा अब..."

"कोई बात नहीं, गर्द-मिट्टी तो झाड़ी-पोंछी जा सकती है। लाइये, मुझे दीजिये।"

और इपात फुर्ती से एक-एक टिकिया और एक-एक समोसा फूंक-फूंककर साफ़ करके गाड़ी में ढेर लगाने लगा। इपात के थूक के साथ उनकी धूल के बादल उड़ रहे थे।

"मुझे नहीं चाहिये ये चीज़ें, मैंने कहा न तुमसे," गालीना ने कहा।

"जो चीज़ें काग़ज़ में लिपटी हैं, उन्हें साफ़ कर लो," डॉक्टर ने कहा, "बाक़ी तो बहुत ही गंदी हो गई हैं।"

"नहीं, उन में से किसी की भी ज़रूरत नहीं।"

"अगर ऐसा ही है तो मुझे दे दीज़िये, मैंने ही तो उठाई हैं यह सारी चीज़ें। मैं इन्हें उठाने के लिए बार-बार रुक रहा था, इसलिए डॉक्टर लगातार मुझे गालियां दे रहे थे।"

"हां-हां, दे दो... मीठी चीज़ देखते ही मुंह में पानी आ जाता है, क्यों! लादकर तो हम लाये हैं, और पाओगे तुम, हैं?"

"बहस बंद करो और आपस में बांटकर खा लो। आइये, हम लोग चलें, गालीना अलेक्सांद्रोव्ना।"

डॉक्टर और गालीना, पेड़ों के बीच, सड़क के किनारे-किनारे चलते रहे। उनके पीछे-पीछे इपात की गाड़ी चरमर-चरमर करती धीरे-धीरे आती रही, और उसके पीछे डॉक्टर की गाड़ी। दूसरी सवारी के घोड़ों की

जोड़ी साज़ की घंटियों को टुनटुनाती उसी तरह रेंगती हुई सी ग्रागे बढ़ती रही।

इपात ग्रौर साईस टिकियां ग्रौर समोसे खाते, जंगल की गंधभरी धूल उड़ाते पीछे-पीछे चल रहे थे।

झाड़ियों की पत्तियों पर बिखरे ग्रोस के मोतियों में इंद्रधनुष झिलमिला रहे थे। एक खंजन-चिड़िया ग्रपनी दुम ऐंठती, लहराती उनके ग्रागे-ग्रागे होकर उड़ गई।

"मुझे ग्रापके जाने का पता नहीं चला–इधर तो तीन हफ़्तों से ग्रापसे भेंट ही नहीं हुई," डॉक्टर बोला। उसने ग्रपनी धूलभरी टोपी उतारी, तो बिलकुल दूसरा ही ग्रादमी नज़र ग्राने लगा। उसके गोरे, साफ़ माथे पर काले बालों की लट लटक रही थी। उसका कल्मीकों जैसा भोला-भाला चेहरा कुछ कोमल हो उठा। "जैसे ही मुझे ख़बर मिली, मैंने सब कुछ–मरीज़ों को देखना, ग्रस्पताल ग्रौर सब कुछ छोड़कर, सवारी किराये पर की ग्रौर ग्रापके पीछे दौड़ पड़ा।"

डॉक्टर के यह कहते ही गालीना को लगा कि जो कुछ उसे कहना था, सो वह कह चुका।

"शायद जब मैं सो रही थी... तब भी मुंह खुला हुग्रा था..."

इस संभावना पर विचार करने के साथ गालीना के दिमाग़ में दूर जाकर ग्रदृश्य होती एक खुली गाड़ी का चित्र भी ग्रा गया। उस गाड़ी में एक स्त्री बैठी थी, जिसके चेहरे पर नक़ाब पड़ा हुग्रा था। गाड़ी के पहिये भारी, काली कीचड़ के ढेलों को धीरे-धीरे ग्रौर बेकार मथ रहे थे।

"काश कि इस समय जो कुछ होनेवाला है, वह न होता..." गालीना ने मन ही मन सोचा।

वह ग्रपना सिर झुकाये ग्रौर कसकर होंठ भींचे चल रही थी। जब-तब उसकी निगाह ग्रपने काले जूतों पर गड़ जाती। जूते रह-रहकर उसकी पोशाक के नीचे से उभरते, ग्रागे ग्राते ग्रौर जंगली घास की लंबी-लंबी पत्तियों को रौंद ग्रौर कुचल देते।

खंजन-चिड़िया ग्रपनी दुम लहराती, ऐंठती ग्रब भी उन्हें बुलाती सी ग्रागे-ग्रागे उड़ रही थी। उस जंगल में वहीं कहीं ग्रासपास कोई जलाशय ज़रूर होगा।

"कितनी सुहानी सुबह है! .." अपनी टोपी हिलाते हुए डॉक्टर ने कहा। "और, ये मधुमक्खियां! .."

झुंड की झुंड मधुमक्खियां भनभना रही थीं। धूप के बीच से उड़ती, तो ख़ुद भी सुनहली हो जाती थीं।

"विलक्षण है! आप जानते हैं कि जबसे मैं यहां इस गांव में आकर रही हूं, मैंने जीवन में इन चीज़ों को पहली बार देखा है! वैसे तो ये सारी चीज़ें शहरों में भी होती हैं, मुझे मालूम है, मैं देहात की झोंपड़ियों में भी रही हूं, और गरमियों में ज़मींदारों की कोठियों में रह चुकी हूं..."

"किसलिए?"

"पढ़ाने के लिए... तो, यह सब तो वहां भी था, और मैंने देखा था – गांव, खेत, जंगल पर, इस समय ऐसा लगता है जैसे कि जीवन में पहले-पहल देख रही हूं यह सारा कुछ।"

"यह सच है! और, यह बात प्रकृति ही नहीं, रूसी किसान के बारे में भी सही उतरती है। मिसाल के लिए, आप अपने इस सेवक को ही ले लीजिये। जब तक मैं डॉक्टर बनकर यहां नहीं आया था, तब तक गांव, किसान और सब कुछ की उल्टी कल्पना थी मेरे दिमाग़ में।"

"हमारे विचार एक-दूसरे से मिलते हैं..." उसने दुख से सोचा।

उसके मुंह से एक हल्की आह निकल गई, पर साथ ही साथ उसका चित्त कुछ हल्का भी हो गया, जैसे कि उसे अपनी लंबी प्रतीक्षा से मुक्ति मिल गई हो। बोली:

"मैं यहां आई तो मुझे लगा कि मुझे जेल में डाल दिया गया है, देशनिकाला दे दिया गया है, पर अब यहां से जा रही हूं तो मन टीस रहा है, बहुत कष्ट हो रहा है! कुछ है जो इस गांव और इस गांव के किसानों की ओर, औरतों-मर्दों की ओर मुझे खींचता है।"

"ख़ैर, यह तो मैं आपको बतला सकता हूं – कुछ समय पहले 'नरोदनिक'* किसानों के बीच रहने गांवों में आते थे। उनके अपने आदर्श

---

*पिछली सदी के सातवें-आठवें दशक के क्रान्तिकारी बुद्धिजीवी, जिन्होंने जनता (रूसी में 'नरोद') के "पास जाकर" किसानों को ज़ारशाही के ख़िलाफ़ बग़ावत के लिए उभारने की कोशिश की थी। – **सं०**

होते थे। आप तो जानती हैं कि आरंभिक ईसाइयों की तरह उनकी भी आत्माएं पवित्र होती थीं। शहरों में उन्हें नौकरियां मिल सकती थीं, पर, नहीं, वे अपने मन से यहां आते थे और आधा पेट खाकर, आधी ग़रीबी में यहां रहते थे। एक शब्द में हम तपस्वी कह सकते हैं उन्हें। पर ऐसे लोग भी बिखरे विरले बीजों की तरह काली मिट्टी में खो जाते थे—खप जाते थे। दूसरी ओर, आप और मैं यानी हम लोग तनख़्वाह के नाम पर पैसा कमाने यहां आये हैं, पर अंतर यह है कि हम अकेले नहीं हैं, हम बड़ी संख्या में हैं, हमारा एक ठोस स्वरूप है, और हम आपस में मिलकर काली मिट्टी को खोदकर, तोड़कर, उलट-पलटकर रख दे सकते हैं। हम अपना काम थोड़ी-बहुत ईमानदारी से करते हैं, और हल के फल की तरह किसान को गढ़े से बाहर खींच निकालते हैं। अलग-अलग व्यक्तियों के नाते हम में से हर एक अकेला किसी अकेले सिपाही से कहीं ज़्यादा बेकार साबित होगा, पर समूह में, दल में हो तो यही हम, क़दम से क़दम मिलाकर चलने पर बड़ी से बड़ी बाधा का मुंह तोड़ सकते हैं। बड़े से बड़े विरोध को हटा सकते हैं।"

जंगल की हरियाली शांत और अन्यमनस्क बनी रही, जैसे कि उसके मन में छाये अकेलेपन के उपयुक्त पृष्ठभूमि। पीछे घोड़े के साज़ की घंटियां टुनटुना रही थीं, और साईस और इपात की आपसी बातचीत के इक्का-दुक्का स्वर कानों में आ जाता था।

"एक बार तो आपने कहा था कि एक किसान होता ही नहीं, हम उनकी कल्पना सदा बहुवचन में ही कर सकते हैं, एकवचन में नहीं।"

"हां, हां, जब तक उसके गले में फंदा रहता है, तब तक वह किसान रहता है; पर, एक बार इस मुसीबत से उसकी जान छूटी नहीं कि वह निकीफ़ोर लुकीच बन जाता है। यह सभी के साथ होता है। हर किसान के अंदर निकीफ़ोर लुकीच छिपा बैठा है। लेकिन, इससे कुछ ख़ास बनता-बिगड़ता नहीं, क्योंकि वे तो इस दलदल से उभर नहीं सकते—केवल इने-गिने व्यक्ति बच पाते हैं। यही कारण है कि सभी किसानों में एक प्रकार का साम्य है।"

"हाकिम के ख़िलाफ़ उन्होंने मुझ पर मंत्र फूंका था," उसने हंसते हुए कहा। उसे याद हो आया कि कैसे किसी ने एक रात उससे उसके बारे में सवाल कर डाले थे।

"क्या मैं इस आदमी को प्यार करती हूं?"

वे आगे बढ़ते गये। जब-तब वे अनजाने ही एक-दूसरे से टकरा जाते और उन्हें लगता कि वे एक-दूसरे के समीप तो हैं, पर उनके बीच एक अनजानी दूरी भी है, जैसे कि वे अभी-अभी एक-दूसरे से मिले हैं। रास्ते में, और बातों के साथ-साथ, वे गांव, संगीत – डॉक्टर वायलिन ख़ासी अच्छी बजाते थे – और साहित्य के बारे में इस तरह चर्चा करते रहे, जैसे कि न कहीं जंगल हो, न मधुमक्खियों की गुंजार, न साईसों की आलस्यपूर्ण बातचीत और न रह-रहकर गूंज उठनेवाली घंटियों की टुनटुनाहट; जैसे कि बने-ठने, शोरगुल करते लोगों की भीड़ में वे किसी थियेटर के बरामदे में टहल रहे हों, चहलक़दमी कर रहे हों।

सड़क बढ़ती हुई एक जंगली खड्ड में पहुंची तो चीड़, बलूत और हैज़ल के दूसरे पेड़ पीछे छूट गये। नीचे के पेड़ों के काले, उदासी से भरे सिरे गहराई में गड़े नज़र आये। खड्ड के दूर के सिरे पर सड़क तेज़ी से मुड़ती थी, और जंगल की ठोस दीवार के पास ख़त्म होती लग रही थी। डॉक्टर और गालीना खड्ड के ऊपर के टीले पर आये, तो जड़ से खड़े हो रहे, जैसे कि उनके सामने एक निश्चित सीमा-रेखा हो।

"तो, यह है समाप्ति, अंत... और अब? अब... अब मेरा सफ़र फिर शुरू होगा, घोड़ागाड़ी होगी, इपात होगा, मैं होऊंगी, फिर स्टेशन आयेगा, रेलगाड़ी आयेगी, फिर शहर आयेगा और फिर... फिर?.." गालीना सोचने लगी।

डॉक्टर कुछ कहने ही लगा था, पर चुप रह जाना ही ठीक समझा। दोनों जंगल के बिखरे मौन को कान लगाकर सुनने लगे। कठफोड़वा कहीं दूर के ठूंठ में चोंच मार रहा था। गाड़ियों के पहिये चरमरा रहे थे। पहियों के नाभिक धुरों से लड़कर बराबर खड़खड़ा रहे थे। चारों ओर का वातावरण जैसे रह-रहकर महक रहा था और दिन चढ़ रहा था। नीचे की झाड़ियों और दलदल के बीच पानी चमचमा रहा था।

"गालीना अलेक्सांद्रोव्ना... यहां बस... यहीं, यानी अब हमें विदा होना होगा... पर, जाते-जाते दो शब्द कहना चाहता हूं... केवल दो शब्द... कहना ज़रूरी है..."

वह अपने-आप से नाराज़ हो गया, उसकी त्यौरी पर बल पड़ गये :

"मैं तुम्हें प्यार करता हूं।"

यद्यपि यह स्पष्ट था कि डॉक्टर **यही** कहेगा, वह हैरान हुई कि बात ऐसे आकस्मिक और नये ढंग से कही गई थी और उसका मन हूक सा उठा, और एक क्षण को उसके दिल की धड़कन डूब सी गई। भय, विस्मय और आनंद की मिली-जुली भावनाएं सहसा ही उमड़ पड़ीं। हां, आनंद भी कहीं अंतरतम में लहरें ले उठा, पर, जिसे वह स्वीकार न करती। उसने क्षण की उलझन समझी और स्थिति संभालने की पूरी चेष्टा की, पर आंखें ऊपर नहीं उठाईं।

कठोरता से उसने आंखें झुका लीं और उसकी भौहों में बल पड़ गये।

"मैं समझी नहीं ... आप ऐसा कैसे कह सकते हैं..." उसने कहना शुरू किया।

उनके पीछे गाड़ियां रुक गई थीं, साज़ की घंटियां शांत हो गईं, धुरों की खड़खड़ाहट ख़त्म हो गई। गालीना और डॉक्टर ढाल से नीचे उतरे, और शहतीर के पुल की ओर बढ़े; पानी दोनों ओर चमचमाता रहा।

डॉक्टर ने गालीना की ओर देखे बिना, शांत मन से धीमे स्वरों में कहा :

"मेरे न परिवार है, न बच्चा है।"

अपने को संभालने की कोशिश में वह ठिठक गया। सड़ती पत्तियों की गंध नाक में भरने लगी, एक तितलौवा पास ही चहचहाने लगी—ऊ-ऊ-ऊफ, ऊ-ऊ-ऊफ...

"मुझे तो पता नहीं था, पर तुमसे मिलकर मेरी पत्नी वापस आई तो मुझसे बोली—'निकानोर, तुम अब मुझे प्यार नहीं करते, मैं यह बात अच्छी तरह जानती हूं, और बहुत दिनों से जानती हूं।' मैं बोला, 'तुम आख़िर कह क्या रही हो? मैंने क्या कभी कुछ भी ऐसा किया है, या एक शब्द भी मुंह से ऐसा निकाला है कि तुम्हें इस तरह की कोई शिकायत हो? तुम सदा की तरह अब भी मुझे बहुत प्यारी हो, हमारा तो एक बच्चा भी है।' पर, वह अपनी बात पर अड़ी रही : 'नहीं, नहीं, नहीं... मैं तुम्हारा कोई बाहरी दिखावा नहीं चाहती,

मैं तुमसे पहले का सा प्यार चाहती हूं और मैं जानती हूं कि सो तुम अब दे नहीं सकते। तुम जैसे अब हो, वैसा मुझे नहीं चाहिए।' वह बिल्कुल पीली पड़ गई। मैंने कहा: 'ख़त्म भी करो, मूस्या!' परंतु, जवाब में उसका चेहरा कड़ा और भावहीन हो गया और उसने मुझे ऐसे देखा जैसे कि मैं कोई अजनबी हूं, बोली: 'मैं न्याय चाहती हूं, मैं बराबरी का हिस्सा चाहती हूं; मैंने अपना सब कुछ तुम पर वार दिया है, सब कुछ—अपना कंवारापन, अपनी जवानी, अपना शरीर, अपना जीवन, अपनी भावना, अपना विचार—मेरे पास कुछ नहीं बचा, कुछ भी तो नहीं! बूंद-बूंद चुक गई है, मैं बिलकुल खोखली हो गई हूं। जहां तक तुम्हारा सवाल है, तुम जीवन नये सिरे से आरंभ करोगे, तुम्हारे तन-मन-प्राण में ख़ुशी फिर से छा जायेगी, पर मेरे लिए तो सब कुछ समाप्त हो गया है—मेरा तो कुछ भी लौटकर आने को नहीं है—मैं मुरझा रही हूं, जल्दी ही पका पात हो जाऊंगी, यह है असलियत।' फिर बोली: 'मैं अपने बेटे को साथ लिए जा रही हूं और अब तुम उसकी शक्ल दोबारा कभी न देख पाओगे! पर, देखो, यह कभी न सोचना कि मैंने तुमसे बदला लिया है, जलन निकाली है, या तुम्हें कष्ट पहुंचाना चाहा है—नहीं, मैंने तो केवल तराज़ू के दोनों पलड़े बराबर करने चाहे हैं, तुम्हें जानना चाहिये, नहीं तो बड़ा अन्याय हो जायेगा...' और वह चली गई।"

डॉक्टर चुप हो गया और अपने पैरों की ओर देखता ढाल पर चढ़ता रहा। ऊपर जंगल दोनों की राह रोके खड़ा था।

"मैं जानता हूं कि इस्पात लच जाये तो लच जाये पर, उसकी इच्छा-शक्ति में बल नहीं पड़ सकता, अपने बेटे की शक्ल अब मैं सचमुच कभी नहीं देख सकता। अगर उसका चरित्र इस प्रकार का न होकर ज़रा दूसरे क़िस्म का होता तो दुनिया के जैसे हज़ार लोग इस स्थिति में रहकर भी जीते चले जाते हैं, वैसे हम भी जीते चले जाते, और उसकी हंसी-ख़ुशी बरबाद करने के लिए मैं कभी कुछ भी ऐसा-वैसा न करता। पर, अपने ही बेटे से अब मैं कभी भी न मिल पाऊंगा। शायद दुख का बराबर बंटवारा है। अब क्या करूं मैं? उसे खोजूं? लड़ाई-झगड़ा करूं? उससे बेटा छीन लूं? पर, नहीं, यह मैं नहीं करूंगा, मैंने उसकी हंसी-ख़ुशी, उसकी ज़िंदगी बरबाद कर दी है। पर, दोष मेरा नहीं है, है क्या?

मेरा दोष नहीं है, सच है न? यह सच है, पर अपराध उसका भी नहीं है। तो दोष किसका है?"

"चचा फ़े-फ़े-फ़ेदूल के पास एक ज-ज-जंगली हंस है..."

गालीना अब भी सिर झुकाये, रह-रहकर चमक उठनेवाले काले जूतों पर नज़रें गड़ाये आगे बढ़ रही थी। चारों ओर रौंदी हुई घास की मीठी-मीठी गंध महक रही थी। कठफोड़वा काठ पर अपनी चोंच मार रहा था, ओरिओल चिड़िया के बांसुरी जैसे सुरीले स्वर हवा में गूंज रहे थे। पर, यह सारा वातावरण, यह सब कुछ जो अब तक उसको चारों ओर से घेरे था, पीछे छूटने लगा, और उसका अपना अनमना, शांत जीवन इसके बीच में अगम्य बाधा बन गया।

"...ज-ज-जंग-ली हंस..."

"यही तो तुमने **पत्नी से** भी कहा था, यही कि मैं तुम्हें प्यार करता हूं," उसका मन डॉक्टर से कहने को मचला। "ऐसे ही तुम तड़पे थे, फिर तुमने आनंद पाया, फिर बेटा हुआ और, फिर... फिर तुम्हारे विचार मेल खाने लगे... पर, मेल तो हमारे विचार भी खाते हैं..."

पर यह न कहकर उसने कहा:

"किसी को किसी की ज़िंदगी नहीं रौंदनी चाहिए... दूसरों की ख़ुशी नहीं छीननी चाहिए।"

डॉक्टर की त्यौरी चढ़ गई।

"पर तुम यह क्यों नहीं देखतीं कि वह तो बीती हुई बात है। तुम जो कह रही हो वह तो ऐसा है जैसे कोई मर गया हो, और हर आदमी उसके शव को टापने से घबड़ा रहा हो।"

वह रुकी और बिना आंखें उठाये बोली:

"अच्छा, विदा!"

इसके बाद वह आगे बढ़ती गई, पर डॉक्टर जहां का तहां जड़ बना खड़ा रहा। साज़ की घंटियां अब भी मौन रहीं, और वह केवल एक गाड़ी की चरमराहट सुन पा रही थी।

जंगल उसके सामने दुर्भेद्य दीवार सा खड़ा था। सड़क खड्ड से ऊपर आई और तेज़ी से बाईं ओर मुड़कर जंगल के किनारे-किनारे बिछती चली गई। खड्ड और शहतीर का पुल हैज़ल की झाड़ियों के पीछे छिप गया, और उस पार का जंगल पराया और सूना सा लगने लगा।

उसने मुड़कर पीछे की ओर देखा: डॉक्टर अब भी, टोपी हाथ में लिए उसी तरह खड़ा था। पीछे उसकी गाड़ी के घोड़े झुककर गाड़ी को रोके रखने की कोशिश कर रहे थे। रास्ते में कुछ आ गया, तो लंबे पैरोंवाले घोड़े ने किनारे से गाड़ी खींची। इपात चाबुक सटकारता और समोसे गटकता गाड़ी के साथ-साथ पैदल चलने लगा। उसने यह सब कुछ, जैसे कि अंतिम बार भर-आंख देखा।

शब्दों से जंगल गूंज उठा – दर्द और आंसुओं से भरे शब्दों से, हो सकता है कि यह दर्द से नहीं, ख़ुशी से:

"यह तो **उसके साथ घटा है, उस औरत के साथ**... वैसे साधारण रूप से, सभी के जीवन में ऐसे क्षण आते हैं, परंतु, मेरी बात दूसरी है, बिलकुल दूसरी..."

अपने ख़ुश्क होंठ ज़रा हल्के से हिलाते हुए बोली:

"निकानोर सेर्गेयेविच, कृपाकर स्टेशन तक... तो पहुंचा ही दीजिये, इस जंगल में मैं बिलकुल अकेली हूं..."

१९१७

मृत्यु-अभियान *

१

काले कपड़े पहने लोगों के कंधे से कंधा सटाये झुंड बड़े शहर के केन्द्र में होकर गुज़र रहे थे। ऊपर हाथ में थमे लाल झंडे लहरा रहे थे, ये झंडे उन लोगों के ख़ून से रंगे थे, जो इनके लिए लड़े थे।

ये लोग ऊंचे-ऊंचे मकानों के बीच सड़क से मार्च कर रहे थे, इन मकानों पर चूने के पलस्तर की मूर्तियों से, और पच्चीकारी से सजावट की गई थी। कुछ मकानों की खिड़कियों में लगे शीशे मार्च करनेवालों को मानो नितांत तटस्थ भाव से निहार रहे थे। शहर में हर ओर जीवन की सदा जैसी, सम-रस चहल-पहल थी। पत्थर की इन ऊंची इमारतों के बीच, सड़क की पटरियों के साथ-साथ जाते व्यस्त, चिन्तित और अनमने लोगों के बीच और मार्च करती अनगिनत क़तारों के ऊपर रह-रहकर हज़ारों कंठों की एक आवाज़ गूंज उठती थी :

"...मज़दूर लोग!.."

इन शब्दों में जितना अभिमान था, उतना ही अजनबीपन! ये शब्द गौरव-से उन काले दलों के ऊपर तैर रहे थे, जिनका दूसरा छोर दूर तक कहीं नज़र भी नहीं आता था।

पत्थर की उन इमारतों और शीशे लगी खिड़कियों के लिए यह आवाज़ अजनबी थी।

मार्च करनेवालों में ऐसे नौजवान भी थे, जिनके प्रफुल्लित चेहरों पर अभी मसें भी नहीं भीजी थीं।

पर इन जवानों के अलावा जुलूस में बड़ी उम्र के लोग भी थे। उनके चेहरों पर गंभीरता थी, और वे जैसे विचारों में खोये हुए थे। शायद उनके दिमाग़ों में ग़ुलामी के पुराने संस्कारों के ख़िलाफ़, उन नई छापों से, जो उन सब बातों के बिल्कुल विपरीत थीं, जिनके वे आदी थे, आशंका के ख़िलाफ़ कशमकश चल रही थी।

छज्जेदार टोपियां, ऊंचे जूते, जैकेट और काले ओवरकोट पहने ये लोग आगे ही आगे बढ़ते जा रहे थे। घनी भीड़ के साथ-साथ फ़ब्तियों, आवाज़ों और हंसी-मज़ाक़ का शोर भी चल रहा था, जो जहां-तहां लोगों के ठहाकों में भी डूब जाता था।

"साथियो, कतार बनाये रहो! .."

"देखा, वान्का किस तरह आगे बढ़ा हुआ है!"

"नहीं, यह तो उसकी तोंद है, जो आगे निकली जा रही है,, हड़ताल भी उसे दुबला नहीं कर पाई..."

"भई, उसके पास तोंद में संचित शक्ति है..."

. . . .

"जी... हम अन्दर पहुंचे नहीं कि ड्यूटी अफ़सर आकर पूछता है–'क्यों, क्या चाहते हैं आप?' हमने कहा कि हम मज़दूरों का डेपुटेशन लेकर आये हैं। हमने इंतज़ार किया। फिर जनरल साहब बाहर आते हैं। ख़ैर, हमने अदब से टोपियां उतार लीं..."

"टोपी ही क्यों, पतलूनें भी उतार लेनी चाहिए थीं..."

"हां, तब वह ज़्यादा मुहब्बत से बातें करते!"

"तुम्हें अपने पैर भी चूमने देते..."

बोलनेवाला खीझ और झेंप के कारण चुप हो गया। भीड़ में एक व्यंग्य-भरी हंसी यहां से वहां तक गूंज गई।

प्रसन्न और निश्चिंत लोगों की भीड़ इस तरह बढ़ी जा रही थी, मानो अलंकारों से सज्जित मकानों से घिरी ये साफ़-सुथरी, चौड़ी-सीधी सड़कें ख़ास तौर पर उन्हीं के लिए, इन बेपरवाह मेहमानों के लिए इन काले कपड़े पहने क़तार बांधकर चलते लोगों के लिए बनाई गई थीं, जो अपने अंदर की ताक़त दिखा रहे थे।

झंडे लहराते दल के बाद दल आते गये और हवा की लहरों पर तैरते रहे उनके सामूहिक स्वर:

"हमें सोने के गुड्डे नहीं चाहिए..."

कंठ से कंठ जुड़ते गये। होते-होते सड़कों और चौकों में यह गीत गूंजने लगा। फिर तो शहर का शहर जैसे हिल उठा, और गीत चारों ओर बिखरी ज़िंदगी की बेचैनी और शोरगुल पर छाने लगा, एक नई ताक़त सी बन उठने लगा। यह शक्ति गीत की बिखरी कविता के निश्छल अनगढ़ रूप में व्यक्त नहीं, वल्कि उस जन-सागर के तूफ़ान भरे विचारों में प्रकट हो रही थी, जो अपने को मनुष्य पहचानने लगा था। शहर को गुंजित करनेवाले क़दमों में अभिमान भरी शक्ति, अपने को पहचान लेने की शक्ति भरी हुई थी।

२

"साथियो!"

सामने के काले सिरों के समुद्र के भी ऊपर उठा हुआ वह दूर से ही नज़र आ रहा था, और उसकी आवाज़ दूर-दूर तक साफ़ सुनाई दे रही थी। मानवता का उमड़ता हुआ प्रवाह थमा तो आगे के लोग रुके, पीछे की टुकड़ियां एक-दूसरे से सटीं, और भीड़ और घनी हो गई। ऐसे ही जैसे कोई बड़ी बाधा आ जाये तो लहराती हुई, बढ़ती हुई जलधाराएं शांत-स्थिर हो जाती हैं।

अब केवल दूर की सड़कों से पैरों की आवाज़ आ रही थी, बाक़ी सब क़दमों की आवाज़ ख़ामोश हो गई थी।

"साथियो! .. मैं तो देख भी नहीं सकता कि आपकी भीड़ कहां तक चली गई है। लेकिन..." उसने हाथ उठाया, और उसकी आवाज़ और दृढ़ हो गई, "लेकिन हमारी शक्ति संख्या के कारण नहीं है। हम आगे बढ़ रहे हैं, और हमारे पास हथियार तक नहीं हैं। हम ख़ाली हाथ हैं, हाथों में अगर कुछ है तो केवल काम करके पड़े हुए घट्टे। तोप-बंदूक़ों की ताक़त के आगे तो हम ऐसे ही कमज़ोर हैं जैसे पैदा हुआ बच्चा। एक दर्जन हथियारबंद आदमी भी आ जायें तो इन सड़कों पर हमारे ख़ून की नदियां बह जायें। मगर फिर भी हमारे दुश्मन हमें दहशत की निगाह से क्यों देखते हैं? क्यों डरते हैं हमसे?"

बोलनेवाला रुका। चारों तरफ़ मौत की सी ख़ामोशी छा गई। उसने जड़ बने काले जन-समुद्र पर एक निगाह डाली, और कहीं दूर मार्च करनेवालों के क़दम सुने।

"हमारे दुश्मन हमारे हाथों से नहीं डरते – वे हमारे दिलों से डरते हैं, वे जागृति से भय खाते हैं, वे हमारे मन की प्यास, दिल की चाह से डरते हैं, प्यास और चाह आज़ादी के लिए, प्यास और चाह जो कभी तृप्त न हो! हममें चेतना आ गई है, ऐसी जैसे पहाड़ में मुंह खोलती हुई दरार। हमने अपनी गुलामी की गहनता को समझ लिया है, हमने उन्हें पहचाना है, जिन्होंने हमें गुलाम बना रखा है। हम, सारे के सारे गुलाम दर्रे के इस पार जमा हैं, और हमें गुलाम बनानेवाले लोग दर्रे के उस पार। हम जानते हैं कि हम दोनों में समझौता मुमकिन नहीं। वे ख़ुद भी यह बात समझते हैं, और जानते हैं कि उनके लिए भी समझौते का कोई रास्ता नहीं। यही वजह है कि हमारे दुश्मन हमसे घबराते हैं, हमसे डरते हैं! .."

उसने गुलाम बनानेवालों और गुलामों के चिरंतन-संघर्ष की चर्चा की, उसने इतिहास के उस अटल नियम के बारे में बताया, जो आदमी के ऊपर आदमी की हुकूमत के सांप के सिर को अनिवार्यत: कुचल देगा। इस तरह उसने जो बातें कीं, वे इन लोगों ने भी हज़ारों बार सुनी थीं, इन्हें ज़बानी याद थीं, वे सारी की सारी बातें ये ख़ुद भी दोहरा सकते थे। पर, इतना होने पर भी वे वही बातें बड़ी चाह से सुने चले जा रहे थे, क्योंकि शब्दों में नयापन था, नयेपन की अपनी एक ख़ूबसूरती थी और ख़ूबसूरती की अपनी एक पवित्रता थी। जैसे तरुणाई में प्यार नया लगता है, वैसे ही जो मानवता के लिए पुराना है, वही प्यार इन्सान के लिए नया होता है।

एक बार फिर काला जन-प्रवाह मकानों की जड़ पांतों के बीच से गुज़रने लगा। झंडों के चटक लाल धब्बे चमचमाने लगे। अनेक स्वर, गीत और हंसी सब मार्च करते क़दमों की आवाज में मिलकर एक हो गये और इन सबके ऊपर भी गीत के शब्द गूंजने लगे:

"सोने के गुड्डे हमें नहीं चाहिए..."

अब भी दूर-दूर की सड़कों से उमड़ते हुए दल के दल आते रहे।

दूर धुंध में लिपटी सड़क मटमैली लग रही थी—सुनसान सागर के रेतीले तट सी, निर्जन, सपाट तट सी, जिसके ऊपर एक जल-पंछी मंडराता रहता है। लोगों ने सिर उठाये। उनके नथुने फड़क रहे थे और माथे पर बल पड़े हुए थे।

३

"आ-आ-आह! . ."

"कहां?"

"वहां, उस जगह . . ."

"कौन हैं वे? . ."

"तुम्हें दिखाई नहीं देता?"

"उधर, उधर वे लोग! . ."

जैसे रात में ख़तरे का घंटा, ठीक वैसे ही सारी बातचीत बंद हो गई, और एक अजीब-सी बेचैनी एक चेहरे से दूसरे चेहरे पर दौड़ गई।

मटमैले रेतीले तट का आकार बढ़ने लगा। जो अब तक उदास और अनमना प्रतीत हो रहा था, वही अब भयानक हो उठा। इसके बाद समझ आया कि वह सागर-तट नहीं, जन-समुदाय था—सारा का सारा एक जैसा। और उनकी संगीनें धूप में चमक रही थीं।

सब के चेहरे एक जैसे थे—जड़ और ख़ामोश—जैसे कि सदियों से इकट्ठी हुई, काई से ढकी चट्टानों के बीच पड़ा घिसा-पिटा कोई पत्थर। उनकी निस्तेज आंखें बढ़ती हुई भीड़ पर लगी थीं।

एक-दूसरे का हाथ पकड़े मार्च करनेवाले एक-दूसरे से और सट गये। दूर-दूर तक ख़त्म न होनेवाली उनकी काली क़तारों के ऊपर ख़ूनी झंडे लहरा रहे थे। स्थिर, अबाध, आगे बढ़ते क़दमों की आवाज़ से शहर का कोना-कोना गूंज रहा था।

४

एक अफ़सर ने फ़ौजियों की तरफ़ मुड़कर हुक्म दिया।

बिगुल बजानेवाले ने अपनी मूंछ के बाल एक ओर हटाए, बिगुल ऊंचा उठाकर होंठों पर रखा और गाल फुलाकर बजाया। इस एक हरकत से

स्थिति की सारी गंभीरता, और चमचमाती हुई संगीनों और जम्हाती, काली मशीनगनों की सारी महत्ता भूरे कोटवाले व्यक्ति में केंद्रित हो गई।

मानों अपनी असीम शक्ति, अपने ज़बर्दस्त रौब का उपयोग करते हुए उसने उन हज़ारों लोगों की तरफ़ देखकर तीन संक्षिप्त वाक्यों में आदेश दिया।

संगीनें एक साथ चमचमाकर हवा में लहराईं, नीचे हुईं और सैकड़ों की संख्या में आज्ञाकारितापूर्वक हाथों में सध गईं, और उनकी नोकें उसी ओर — उमड़ते, आते, जीते-जागते जन-सागर की ओर तन गईं। राइफ़लों के मुंह लोगों की तरफ़ घुमे हुए थे। भूरी वर्दीवाले आगे के सैनिक एक घुटने के बल बैठ गये, और मशीनगनें अडिगतापूर्वक आगे बढ़ते हुए जन-समुदाय को बड़ी हवस से देखने लगीं।

बातचीत और हंसी-ठिठोली बंद हो गई। हर तरफ़ सन्नाटा छा गया, और इस सन्नाटे को मार्च करते पैरों की आवाज़ रह-रहकर भेदने लगी। धीरे-धीरे वह आवाज़ सड़कों, गलियों और चौराहों में भरकर ख़ामोश नगर पर छा गई।

पर, यह वातावरण का तनाव टूटा और मौत के मुंह में खड़े हज़ारों जवानों और बूढ़ों के स्वर एक साथ सुनाई दिये, वह मज़दूरों का गीत था — मृत्यु-अभियान का गीत :

"हम हुए शहीद
भाग्य की लड़ाई में।
हम हुए शहीद..."

गीत विदा का संदेश था — धुंधले आसमान के लिए, ख़ून की तरह लाल सूरज के लिए, और सांस रोके से खड़े पत्थर के उस नगर के लिए। मार्च करनेवाले गाते हुए गुज़रे तो किनारे के गली-कूचों और सड़क की पटरियों पर जमा हज़ारों लोगों ने उनके सम्मान में अपने टोप उतारकर हाथों में ले लिये :

"जनता के लिए,
मन में प्यार लिए
हम हुए शहीद..."

मौत की घंटी की तरह स्वर लहराकर जन-समुदाय पर छा गये :

"अपना सब बलिदान
श्रमिकों के लिए,
हम हुए शहीद ..."

उनके चेहरे पीले थे, पर आंखें चमक रही थीं। और वे आगे ही आगे मौत के मुंह में बढ़ते ही चले गये।

एक गुलाबी-सी, धुंए से भरी धुंध ने सूरज को ढक लिया, उसने मकानों और लोगों के चेहरों पर अपनी रंगत डाल दी। एक ओर से ख़ून की गंध की लहर सी आई, और हर एक का मुंह किसी परिचित वीभत्स स्वाद की कड़वड़ाहट से भर उठा।

मृत्यु-अभियान पर निकले जुलूस और भूरी वर्दी पहने लोगों के बीच का फ़ासला कम होता जा रहा था, ख़त्म होते जीवन और भयंकर मृत्यु के बीच की दूरी सिमटती जा रही थी।

"आग भरे शब्दों में
लिखेंगे एक कहानी,
हम हुए शहीद ..."

हज़ारों कंठ मृत्यु-अभियान का मृत्युंजयी गीत गा रहे थे, हज़ारों लोग मार्च करते बढ़ते चले आ रहे थे और सड़कों पर, ऊंची इमारतों की सफ़ेद दीवारों पर मातम के प्रतीक सी काली झंडियां फहरा रही थीं।

५

ऊपर को उठी मूंछोंवाले अफ़सर ने अपनी सधी हुई अभ्यस्त नज़र से घटती हुई मौत की दूरी का अंदाज़ लगाया। इसके बाद उसने हाथ उठाया तो उसकी तलवार धूप में बिजली सी चमक उठी। उसके होंठ हिले और उसने फ़ायर का हुक्म दिया।

प्रतीक्षा के दुस्तर क्षण भर उठे :

"... अलविदा, भाइयो! .."

उसी क्षण वढ़ती हुई जीवित क़तारों ने मृत्यु की दूरी को मिटा दिया। संगीनें छलके हुए पानी की तरह ज़मीन पर गिरतीं, और पहले के परेशान, पर अब के ख़ुशी से हंसते हुए फ़ौजी जन-प्रवाह में खो जाते। उनके चेहरे पीले किंतु यौवन भरे थे। अनंत चलते-फिरते, काले दलों की बाढ़ में भूरा मोर्चा वैसे ही खो गया, जैसे लुढ़कता हुआ ग्रेनाइट शिला-खंड सागर तट की ओर उठती लहरों में समा जाये।

अफ़सर ने अपनी जड़ तलवार को नीचा करके दूसरी ओर मुंह कर लिया। मशीनगनें मूर्खों सी खड़ी रहीं।

लाखों लोग मौत का तराना गाते, सड़कों पर मार्च करते निकले तो क़ब्रों की जड़ता से और मौत के गीत से एक नया जीवन उभरा, यह जीवन शक्ति और विजय का प्रतीक था, इसमें आशा की चमक थी, यौवन की उमंग थी, उल्लास का सागर था। नया जीवन धूप सा सुनहला, हज़ारों लोगों के चेहरे पर कांति बनकर खिला। सड़क की पटरियों पर जमा ठसाठस लोग गला फाड़-फाड़कर मार्च करनेवालों को बधाइयां दे रहे थे, उनका अभिनंदन कर रहे थे।

ख़ूनी धुंध जमा हुई और छूट गई। मुंह की कड़वाहट दूर हो गई, और उसके साथ ही जी बिगाड़नेवाली ख़ून की गंध भी लुप्त हो गई।

धुली धूप खिल गई और शहर के हज़ारों कंठों के दबे हुए स्वर एक बार फिर झंकृत हो उठे।

१९०५

तूफ़ान*

१

"उइ-उइ-उइ! .." नाव में मार से छटपटाते अंद्रेइका की चीखें धूप में झिलमिलाते समुद्र की सतह के पार तक चली गई। "अब नहीं करूंगा, दादा, अब नहीं करूंगा! .."

दादा गठीले बदन का था, उसके झुर्रीभरे चेहरे पर रूखी, खिचड़ी भौंहें झुक आई थीं और धूप और समुद्री हवा में रहने से उसका रंग चमड़े सा काला पड़ गया था। एक हाथ से उसने लड़के को गरदन के पीछे से पकड़ रखा था, और दूसरे हाथ में तारकोल चढ़ी रस्सी थी, जो लड़के के बदन पर सड़ाक से पड़ने के साथ उसे काटे डालती थी। इसके बाद उसने उसे नाव के तले पर पटक दिया। लड़का सिसकता हुआ खड़ा हो गया, नाव के किनारे पर झुका और लहरों पर उभरते जालों को खींचने लगा।

समुद्र चमचमाता हुआ ऐसा कि निगाहें न जमें और उस पर फैलीं कांच सी लहरियां। सिर पर चढ़ा सूरज आंखों को तकलीफ़ देता था। नाव के काले पेटे से और मस्तूल तक बंधे रस्सियों के जाल से तारकोल टपक रहा था, झुके हुए पाल भी मैल और तारकोल से काले पड़ गये थे। उमसभरी थमी हवा में ये पाल काले छाया-आकार से प्रतीत होते थे।

दूर-दूर तक ज़मीन दिखाई नहीं देती थी।

खीझ और ग़ुस्से से अंद्रेइका के माथे में बल पड़ रहे थे। पर, बड़े

ध्यान से और मज़बूती से जाल खींचे जा रहा था और साथ-साथ फंसी मछलियों को निकालता जाता था।

सुबह के कोई दो बजे, सितारे हल्के होने लगे थे जब अंद्रेइका दादा के साथ किनारे से चला था। और सूरज निकलने से पहले चलनेवाली वसंत की हल्की हवा के झोंके नाव को समुद्र में ले गये थे। पर, जब सवेरा हुआ, आसमान में, पानी पर और चारों ओर के शांत वातावरण में गुलाबी धारियां पड़ गईं, स्थिर शांत समुद्र क्षितिज तक दिखाई देने लगा और हवा थम गई। दादा और अंद्रेइका को चप्पू चलाने पड़े। और उन्होंने बारी-बारी से खेना शुरू किया। अंद्रेइका पहले तो आराम से, धीरे से खेता रहा, पर जब घंटा बीत गया और दो घंटे बीते तो वह थकने लगा। अब वह झटके से बदन पीछे फेंकता, और झिलमिलाते, गुलाब के रंग से पानी में डांड़ों का छपाका होता तो उसकी कमर और उसके बाज़ुओं में ऐसी पीड़ा होती कि उसे दुबारा शरीर सीधा करना असंभव मालूम होता। फिर भी वह हाथ बराबर चलाता रहा, और नाव कछुए की चाल से आगे बढ़ती गयी।

इस बीच दादा जड़ बना सा नाव के पिछले हिस्से में बैठा रहा। पर, आख़िरकार बोला :

"बस करो, अंद्रेइका!"

अंद्रेइका बड़ा ख़ुश हुआ और वह उठकर पीछे के हिस्से में चला गया। दादा ने पतवार संभाल ली और चुपचाप दृढ़ता से नाव खेने लगा। अंद्रेइका नाव मोड़ता था, कभी दादा को और कभी उठती पतवारों से झरती जल-धाराओं को देख रहा था। दादा खेता, तो उसका मज़बूत शरीर लय के साथ आगे-पीछे होता था। बीच-बीच में अंद्रेइका चेहरे का पसीना पोंछ लेता और आराम का मज़ा लेने लगता।

सागर पार कहीं से सूरज निकला। किरणें शांत सतह पर पड़ने लगीं। झुलसानेवाली गरमी और उमस के दिन का आरंभ हुआ।

जल्दी ही सागर की सतह पर लकड़ी के बड़े-बड़े गोल-गोल टुकड़े नज़र आये, जिन पर छोटी झंडियां लगी हुई थीं – ये जाल के तिरेंदे थे। दादा-पोता ऐसे एक तिरेंदे के पास पहुंचकर उसमें बंधी रस्सी के सहारे जाल का सिरा खींचकर और सिरे पर पूरा ज़ोर लगाकर, नाव के किनारे पर झुककर, पानी की सतह से नीचे फैले जाल के साथ-साथ

नाव को दूर तक खींचकर ले गये। अंद्रेइका ने पारदर्शी साफ़ पानी पर निगाहें डालीं तो उसे बड़ा अच्छा लगा। सहसा ही सफ़ेद सी कोई चीज़ कहीं कौंधी, इधर-उधर नाची और जाल एक ओर से खिंच गया। होते-होते जाल में एक मछली फंस गई। मछली सतह पर आकर तड़पने लगी। अंद्रेइका ने कोमल, गुलाबी गलफड़ों में अपनी उंगलियां फंसाकर उसे पकड़ा, जाल से बाहर निकाला और नाव के तले के पानी में छोड़ दिया। वह पीड़ा, निराशा और भय से पागल हो गई और इधर-उधर उछलने लगी। पानी चारों ओर छलका। उसकी समझ में कुछ भी न आया कि यह सब आख़िर क्या हुआ, क्यों हुआ? वह इस भयानक जेलख़ाने से आज़ाद होने के लिए बेचैन हो उठी, जहां वह अपने फटे और ख़ून भरे गलफड़ों से सांस नहीं ले पा रही थी।

सूरज ऊपर चढ़ रहा था। आसमान से आग बरसने लगी, झुलसनेवाली गरमी अलसाये समुद्र पर शिथिल और जड़ सी छा गई। अंद्रेइका गरमी से बेदम हो गया था। और करने के लिए कोई काम नहीं था, तो जाल से मछली निकालते-निकालते उन्हीं से बातें करने लगा:

"अरे वाह री मेरी नन्हीं हिलसा! कोई बात नहीं! कोई बात नहीं! अभी तुझ पर नमक पड़ जायेगा, फिर तू इतनी नहीं छटपटायेगी! आ, सीधे-सीधे नाव में चली आ! .. वाह री शफ़री! तुम्हारे बदन पर बड़ी चर्बी है, लगता है, जब तक तुम्हारा पेट नहीं फूल गया, तुम मुंह में ठूंसती ही रहीं। चलो, चलो, निकलो बाहर, ज़िद करने से काम नहीं चलेगा, पर, तुम मेरे हाथ से अब किसी तरह बचकर नहीं निकल सकतीं, तोंदूमल! आओ, बाहर आओ! .." और, अंद्रेइका ने दोनों हाथों का पूरा ज़ोर लगाकर, एक बड़ी मछली जाल से निकाली और बड़ी कठिनाई से उसे ऊपर उठा लिया।

"दादा, देखो, ज़रा इसका पेट तो देखो!"

पर इधर दादा ने मुंह खोला और उधर मछली ने ऐसे ज़ोर से बदन झटका कि हाथ से फिसलकर तड़ से पानी में जा गिरी और खो गई।

बस, दादा मुंह से तो कुछ नहीं बोला, पर अपनी जगह से उठा और तारकोल से लिपटी रस्सी को कई बार मोड़ अंद्रेइका को बेरहमी से मारने लगा, तो बेबसी से चीख़ते-चिल्लाते लड़के की आवाज़ें सागर पार जा पहुंचीं।

२

अंद्रेइका के न मां थी और न बाप था। जहां तक उसे याद था, वह अपने दादा अगाफ़ोन के साथ, बेंत के बड़े पेड़ के साये में बने छोटे से मकान में रहता आया था। मकान की एक तरफ़ सफ़ेद बालू और नीला सागर था, दूसरी ओर दूर-दूर तक फैला वीरान, बंजर मैदान था। इसमें कहीं नाम को भी पेड़-पौधे न थे। हर तरफ़ थी जली हुई घास, और था चिरायते का पसारा। कहीं-कहीं वसंत की बाढ़ से बनी नालियां और गढ़े थे।

इस घटना के कोई बारह साल पहले दादा अगाफ़ोन इसी मकान में अपने परिवार के साथ रहता था। परिवार में उसकी पत्नी और पांच बच्चे थे। पर, सहसा ही कंठमाला का रोग फैला तो हफ़्ते भर में ही पांचों बच्चे गुज़र गये।

जाड़े की एक रात में पति-पत्नी अपने छोटे, सफ़ेद मकान में अकेले बैठे थे। बाहर बर्फ़ानी अंधड़ चल रहा था और काली-काली खिड़कियां खड़खड़ा रही थीं। अगाफ़ोन जाने किन विचारों में खोया-खोया सा, अनमना सा जालों की मरम्मत कर रहा था, और उसकी पत्नी अंगीठी के पास चीज़ें धर-उठा रही थी। सहसा ही किसी ने खिड़की खटखटाई। अगाफ़ोन ने दरवाज़ा खोला, तो सामने फटे कपड़े पहने, सर्दी से कांपती, बर्फ़ से ढकी एक औरत खड़ी देखी। चेहरा ठंड से ठिठुर गया था। गोद में चिथड़ों में लिपटा नन्हा-सा बच्चा था। सरदी से बच्चा नीला पड़ गया था और रोते-रोते अब चुप हो गया था। सरदी से जमे होठों से उस औरत ने जैसे-तैसे हकलाते हुए रात में ठहरने की जगह की भीख मांगी। पति-पत्नी उसे अंदर ले आये और उसे कुछ खिलाया। ज़रा गरमी पाते ही बच्चे ने रो-रोकर घर सिर पर उठा लिया। अगाफ़ोन की पत्नी को अपने मृत बच्चों की याद हो आई और वह ऐप्रन से अपने आंसू पोंछने लगी।

औरत ने अपनी दुखभरी कहानी सुनाई। वह ओर्योल गुबेर्निया से आ रही थी और अपने पति की खोज में कुबान नदी के इलाक़े जा रही थी। आज से छः महीने पहले वह वहां गया, तो जाने के बाद उसने चिट्ठी-पत्री कुछ भी नहीं लिखी। घर में जो कुछ था, सब का सब खाने-पीने में फुंक गया। मजबूर होकर पति की तलाश में घर छोड़ना पड़ा। रास्ते

में मांग-मांगकर अपना काम चलाती रही। कभी-कभी गाड़ी के कंडकटरों से मिन्नत की तो उन्होंने दो-चार स्टेशन पहुंचा दिया, और एक गांव से दूसरे गांव में पहुंची तो भले लोगों ने जब-तब अपनी सवारी पर बिठा लिया। इस तरह येइस्क तक आई। येइस्क से सवेरे रवाना हुई और स्तेपी में भटक गई। रात होते-होते बर्फ़ानी अंधड़ चलने लगा। औरत मरने के लिए तैयार हो गई थी कि तभी अचानक दूर से इस मकान में रोशनी दिखाई दी।

पर औरत उसी रात को बीमार हो गई और तेज़ बुख़ार की बेहोशी में बड़बड़ाने लगी। बेचैनी से करवटें बदलती और चीख़ती-चिल्लाती रही। अगाफ़ोन की पत्नी ने तीन बार 'पवित्र जल' पिलाया और उस पर छिड़का तक, पर उसकी हालत बिगड़ती ही गई। आख़िर दूसरे दिन शाम को वह मर गई, और अगाफ़ोन और उसकी पत्नी ने बच्चा गोद ले लिया।

अंद्रेइका को अपनी धर्म-माता की याद धुंधली-धुंधली सी थी, प्यारभरी, बड़ी उम्र की औरत थीं। वे उसे नहलातीं-धुलातीं, खिलातीं-पिलातीं और कमरे के बीच, छत से लटके पालने में झुला-झुलाकर सुलातीं। उसे एक और घटना भी अभी तक याद थी—वह क़रीब चार साल का था, कुछ लोग घर में आये, उन्होंने बेंच पर सोती हुई धर्म-माता को उठाया, देव-मूर्तियों के सामने की मेज़ पर रखा, मोमबत्तियां जलाईं और उसके बाद उन्हें कहीं ले गये। और दादा अगाफ़ोन के साथ वह अकेला रह गया था। उसे याद है, जब दादा अगाफ़ोन मछलियों के शिकार के लिए समुद्र जाता तो उसे स्तेपी में चौड़े खड्ड में बसे एक गांव में अपनी एक रिश्तेदार के पास छोड़ जाता। यह गांव समुद्र-तट से कोई तीन वेर्स्ता की दूरी पर था, और वह रिश्तेदार थीं दादी स्पिरिदोनिख़ा। पर, जब उसकी उम्र छः साल की हुई तो दादा उसे अपने साथ समुद्र ले जाने लगा। यहां नाव के अगले भाग में दादा ने बहुत सी सूखी घास डाल दी थी और अकसर अंद्रेइका उसपर पड़कर सो जाता था। समुद्री चिड़ियां उसके ऊपर मंडराती रहतीं, धूप और लहरों की फुहारें उस पर पड़ती रहती थीं।

सात साल का हुआ तो हर काम में अंद्रेइका दादा की सहायता करने लगा। सुबह कोई तीन बजे दोनों सोकर उठते तो लड़का जल्दी-जल्दी

चेहरे पर ठंडे पानी के छींटे देता, क़मीज़ से पोंछ लेता, शुक्रतारे की ओर मुंह कर सीने पर क्रॉस बनाता और जल्दी-जल्दी प्रार्थना करता – उस समय उसे केवल दो प्रार्थनायें याद थीं। इसके बाद वह सूखा गोबर अंदर ले जाकर अंगीठी जलाता, आलू छीलता, मछलियां साफ़ करता और उन्हें उबालता। नाश्ता करने के बाद वे समुद्र की ओर चल देते।

समुद्र में, घर में दादा अगाफ़ोन उससे हर काम बराबर करवाता था: पाल चढ़ाना, नाव खेना, मछली के जालों की मरम्मत करना, उन्हें इक्ट्ठा करना, पानी में जाल डालना, कांटों से मछलियों को निकालना, आदि। अंद्रेइका ऐसे ही अनेक काम करता और अपने बूते से ज़्यादा। इस पर भी अगर उससे कोई ग़लती हो जाती, या वह कोई काम भूल जाता या बिगाड़ देता, तो दादा उसे बड़ी बेरहमी से सज़ा देता था। ज़रा कहीं वह डांड़ ठीक से न पकड़े, या पाल गिराने या चढ़ाने में देर कर दे – बस, दादा तुरंत बिना कुछ कहे खड़े होकर, तारकोल में लिपटी रस्सी उठाकर बेदर्दी से उसे मारने लगता था। पहले भरते भी न थे कि मार के और ताज़े ज़ख़म हो जाते। अंद्रेइका का पतला-दुबला चेहरा धूप में रहने के कारण काला पड़ गया था। वैसे भी वह शरीर का दुबला और क़द का छोटा था।

लड़के का जीवन एक ही तरह से असीम नीरसता में बीत रहा था। उसके चारों ओर था समुद्र, आसमान, स्तेपी, समुद्री किनारा और कुछ नहीं। किनारा निर्जन और वीरान था। मिट्टी बह जाने के कारण कहीं-कहीं नाले-नालियां बन गई थीं। कहीं-कहीं छिछले पानी के गढ़े थे। लेकिन, फिर भी वह रेगिस्तान सी जगह भी अंद्रेइका को आबाद और जीवन से भरपूर लगती थी।

मार्मोट सीटियां बजाते, स्तेपी के बराबर दौड़ लगाते और अपने बिलों के पास खंभों से सीधे, स्थिर खड़े हो रहते। चक्कर काटती चीलों और बाज़ों की परछाइयां नीचे की सूखी घास पर पड़तीं। कभी-कभी शिकरा अपने पंख धीरे-धीरे हिलाता, गतिहीन होकर अधर रुक जाता। स्तेपी के ढूहों पर जब तब ही उदास और अकेले बाज़ों की काली रूपरेखायें तैरने सी लगतीं। समुद्री चिड़ियों की कान के परदे फाड़ देनेवाली कर्कश आवाज़ किनारे पर एक सिरे से दूसरे सिरे तक गूंज उठती और वे जाल से बाहर फेंकी जाती मछली पर झपट्टा मार देतीं। कभी-

कभी तो मछुओं के हाथ तक से मछली झपट ले जातीं। वसंत और पतझड़ में सारे के सारे प्रदेश में देशांतर जाने वाले लाखों-करोड़ों झुंड के झुंड पक्षियों का शोर बराबर जारी रहता था।

फिर भी, समुद्र की आबादी सबसे घनी और विविध थी। छिछले पानी में स्टरलेट, स्टरजियन, हिलसा, तरह-तरह की शफ़रियां और रोच और भी न जाने कितनी तरह की मछलियां थीं। किनारे की बालू में अनगिनत केकड़े और पनकीट थे। जुलाई का अंत होते-होते तो समुद्र का पानी सेवारों की वजह से हरा-हरा लगने लगता, और रातों को धीमे-धीमे चमचमाता। लहरों के शिखर, नावों के आने-जाने से पानी पर बनने-मिटनेवाली रेखायें, डांड़ों के हर छपाके से प्रतिपल फैलते घेरे, तट पर टकराकर टूटती लहरें, फुहारें, चंचल हो उठनेवाली हर चमकती बूंद नीली सी दिखती थी। अंद्रेइका को लगता कि यह जो नीली-नीली सी रोशनी है, जो ज़रा सी चमकते ही छिप जाती है इसका कोई न कोई संबंध उन लोगों से है जो मर गये हैं, या जो डूब गये हैं और जिनकी समाधि सागर के जल में बनी है।

दादा अगाफ़ोन तो प्रायः चुप और उदास ही रहता, पर जब कभी जल-जीवों के बारे में बात करने लगता तो उसके चेहरे की झुर्रियां जैसे ग़ायब हो जातीं, उसकी बड़ी-बड़ी भौंहों के नीचे की आंखों में कोमलता जाग उठती और लगता कि वह कई-कई दिनों तक लगातार इस विषय पर बोल सकता है।

एक दिन अंद्रेइका ने पूछा:

"दादा, यह इतनी सारी मछलियां कहां से आती हैं? हम इतनी-इतनी रोज़ पकड़ते रहते हैं, पर ये और आ जाती हैं। फिर, हम ही तो नहीं हैं—हमारी तरह जाने कितने लोग इनका शिकार करते रहते हैं, देखो न, कितने जाल पड़े हुए हैं कि डांड़ तक की जगह नहीं है कहीं।"

दादा बोला:

"ईश्वर पैदा करता है इन्हें, ईश्वर पैदा करता है, क्या उसके पास इनके लिए जगह नहीं है? उसने इतना सारा पानी इसीलिए तो बनाया है कि यह मछलियां बढ़ती रहें और आदमी का पेट भरें।"

"मछली जानती है क्या कि वह पकड़ी जा रही है?"

"क्यों नहीं, ज़रूर जानती है... मछलियां हमारी-तुम्हारी तरह

आपस में बातें करती हैं और एक-दूसरे को बतला देती है कि जाल कहां हैं, और कैसे डाले गये हैं, हां, यह है कि उनकी अपनी अलग बोली है और वह हम समझ नहीं सकते। उनकी बात सिर्फ़ वे लोग समझते हैं जो डूब गये हैं, और अब समुद्र के तल में सोये हुए हैं। मछलियां जानती हैं कि मुर्दे न तो उन्हें छेड़ सकते हैं, और न ही उन्हें उठाकर किसी दूसरे को सौंप सकते हैं, इसीलिए वे उनके चारों ओर तैर-तैरकर अपने मन की बातें करती रहती हैं।"

अंद्रेइका प्रायः कुछ न बोला, आंखें फाड़े दादा को ताकता रहा। उसकी कल्पना में चित्र बना – समुद्र की नीली गहराइयों के नीचे घटाटोप अंधकार, अंधकार के नीचे समुद्र का तला, अस्पष्ट और धुंधला-धुंधला सा, तले पर पड़ी हुई, डूबे हुए आदमी की फूली हुई लाश, सिर से पैर तक नीली, आंखें खुली सी, उसके चारों ओर तैरती हुई मछलियां, गलफड़े रह-रहकर फूलते और पिचकते से नमकीन पानी पीती सी, और एक-दूसरे को बताती सी कि कहां क्या हो रहा है। वे शायद दादा और उसके बारे में भी बातें कर रही हैं, कह रही हैं कि वह है अंद्रेइका और वह उसका दादा अगाफ़ोन, वे इस तरह बैठते हैं, और इस तरह पानी में जाल डालते हैं।

यह सब अंद्रेइका को ज़रा डरावना लगता। इसके पहले वह जब भी नाव लेकर समुद्र में आया, उसकी दुनिया घूम-फिरकर समुद्र की सतह पर समाप्त हो जाती थी। गहराइयों के नीचे की दुनिया उसके दिमाग़ में कभी न आई थी। उसे सदा यही लगा कि समुद्र में बस पानी है, और जाल डालने से उसमें से मछलियां सिमटकर ऊपर आ जाती हैं। पर, अब पता लगा कि सागर की भयानक गहराइयों में सिर्फ़ वे मछलियां ही नहीं रहतीं जो नाव में चुपचाप बेबस सी तड़पती रहती हैं, जिन्हें जाल के ऊपर आते ही मैं बाहर खींच निकालता हूं, बल्कि वहां वे जीव रहते हैं जो सोचते-समझते हैं, बोलते-चालते हैं और ऊपर ज़मीन पर रहनेवाले लोगों की तरह ही बुराइयों और मुसीबतों से अपने को बचाते हैं।

सिर के ऊपर सूरज चमक रहा था, हवा के साथ बादल चलते जा रहे थे, और रहस्यमयी गहराइयों में भी जीवन का कारोबार चल रहा था। यह जीवन अंद्रेइका को अपना और अपने दादा का दुश्मन सा प्रतीत हुआ। उसके मन में दहशत होती थी।

दादा कहता गया :

"ईश्वर ने सब कुछ बहुत सोच-समझकर बनाया है। देखो, हम कहते हैं कि यह शफ़री बस एक गूंगी मछली है, और कुछ नहीं। पर, बात ऐसी नहीं है। कभी मछलियों से भरा जाल बाहर खींचो, और उसमें एक भी शफ़री होगी, तो सारी की सारी मछलियां समुद्र में वापस पहुंच जायेंगी। जानते हो, अपने को जाल में पाते ही शफ़री आगे-पीछे, नीचे-ऊपर उछलने-कूदने लगेगी और अपना पूरा ज़ोर लगाकर जाल को नाक से इस तरह ज़ोर से हिलायेगी कि धागे कांप जायेंगे। अगर कहीं जाल पुराना हुआ, तब तो वह जाल तोड़कर ख़ुद तो निकल ही जायेगी, अपने साथ दूसरी मछलियों को भी ले जायेगी। अगर जाल नया हुआ और उसकी कुछ न चली, तो पानी से बाहर ऐसे ज़ोर से उछाल लगायेगी कि उछलकर जाल के बाहर आ जायेगी। यही नहीं, अगर तुम कभी किनारे पर खड़े होकर जाल ऊपर उठाकर खींचोगे और शफ़री को अपनी जान का ख़तरा मालूम होगा, तो वह नीचे धंसकर बालू और काई में इस तरह नाक गड़ा लेगी कि तुम्हारा जाल हज़ार भारी हो, और उसमें चाहे मन-मन के पत्थर बंधे हों, पर वह उसकी चिकनी पीठ के ऊपर से तो फिसल ही जायेगा। इससे कभी-कभी उसकी खाल भी छिल जाती है, पर इससे कुछ नहीं, वह अपनी दुम झटकेगी और फिर पानी छिटककर चली जायेगी।"

"तो, शफ़री बड़ी समझदार मछली होती है?"

"हां, बहुत ज़्यादा। ईश्वर ने देखा कि आदमी मछलियों पर मछलियां बरबाद करता जाता है, अनगिनत मछलियां पकड़ता जाता है! अगर ऐसा ही रहा तब तो मछलियों का नाम-निशान तक मिट जायेगा। बस, तो भगवान ने शफ़री को अक़्ल दे दी। अब यह हुआ कि आदमी यदि तेज़ है तो मछली उससे भी तेज़ निकली।"

इसके बाद दादा ज़रा और जोश में आया और अपनी भौंहें चढ़ाकर बोला :

"मछलियां समुद्र में तैरती-फिरती हैं, और खाने के लिए कोना-कोना छान मारती हैं। पर, समुद्र में उनके लिए खाना कहां? अरे, कहीं कीड़ा-मकोड़ा मिल गया, तो उसे खा लिया, कोई अपना भाई-बंध ही खा लिया। बस न! लेकिन, नदी में उन्हें सभी तरह की चीज़ें खाने को

मिल जाती हैं, और सो भी इतनी कि जितनी चाहें खायें। फिर, नीचे तले में मिट्टी भी होती है, सड़ी-गली चीज़ें और कूड़ा-कचरा भी होता ही है। कीड़े-मकोड़े और ऐसी ही दूसरी चीज़ें वहां ख़ूब पनपती हैं, बरसात का पानी जंगल से जड़ें, पत्तियां, शाखें, या जो भी उगता है, बहाकर ले आता है। हां तो, पिछले ज़माने में खाने के लालच से मछलियां नदियों में आने लगीं, और विशेष रूप से दोन नदी में और रेतीले किनारे तक चली आती थीं। फिर होते-होते पकड़नेवाले बहुत हो गये, तो जाल इस पार से उस पार तक बिछने लगे और मछलियां लाखों की गिनती में पकड़ी जाने लगीं। मछलियों ने आपस में सलाह की—'देखो, नदियों में जाना बंद करो—वहां गईं कि पकड़ी गईं।' बात सारे समुद्र में फैल गई और पेट से जान बड़ी मानकर मछलियों ने दोन नदी में आना बंद कर दिया। इसके बाद क़ानून बनाया गया और सारे रूस में हफ़्ते में एक दिन मछली के शिकार की मनाही कर दी गई—अब शनिवार की शाम को छः बजे से सोमवार के सुबह छः बजे तक कोई मछली नहीं पकड़ सकता। इसका क्या असर हुआ जानते हो? इसका असर यह हुआ कि पूरे हफ़्ते एक भी मछली समुद्र से दोन नदी में नहीं आती, क्योंकि वह जानती है कि उन पांच दिनों मछलियों का शिकार होता है। पर, शनिवार की शाम आई कि झुंड की झुंड चल पड़ती हैं समुद्र से दोन नदी की तरफ़, और इतवार की रात तक वहीं बनी रहती हैं। पर, होता यह है कि सब की सब लौट नहीं पातीं और सोमवार का पूरा दिन उनके सागर की तरफ़ जाने में लग जाता है। नदी के मुहाने में शिकार करनेवाले जानते हैं कि हफ़्ते के बाक़ी दिन एक भी सागर की मछली नहीं मिलेगी और वे सोमवार की सुबह नदी को जालों से पाट देते हैं, और जो मछलियां पीछे छूट जाती हैं, उनके हाथ लग जाती हैं... तो, बात यह है, आदमी तेज़ होता है पर, मछलियां उससे भी ज़्यादा तेज़ होती हैं।"

आम तौर पर दादा की कहानियों का अंत कुछ ऐसा होता:

"सच तो यह है कि मछलियां घटती जा रही हैं, हर गुज़रते साल में उनकी गिनती कम ही होती जा रही है। उसकी वजह है कि मछुओं की संख्या बढ़ती जा रही है—जिधर देखो, उधर जाल ही जाल नज़र आते हैं!"

इसके बाद दादा की रूखी, घनी भौंहें फिर अपनी जगह आ जातीं। और वह फिर अनमना, हमेशा जैसा अपने-आप में खो जाता। एक बार फिर अपने में डूब जाता।

दादा और अंद्रेइका दिन-रात मेहनत करते। कोई छुट्टी नहीं, कोई आराम नहीं। जो कुछ कमाई होती, उसे दादा शराब में उड़ा देता।

शिकार लेकर वे ज्यों ही घर पहुंचते, दादा दलाल के हाथों सारी मछलियां बेच देता और अंद्रेइका को घर पर रहकर जालों की मरम्मत करने, नाव के छेद बंद करने, कांटे तेज़ करने, ठीक जगह कसने या पाल की मरम्मत करने का कड़ा आदेश देकर बड़े गांव की तरफ़ निकल जाता। वहां के बाज़ार में पहुंचकर तब तक शराब पीता, जब तक आख़िरी पैसा और बदन पर आख़िरी कपड़ा बचा रहता।

दादा की पीठ फिरते ही अंद्रेइका जाल, कांटे, फटे पाल एक तरफ़ फेंक देता और दौड़ लगाता, तीन वेर्स्ता पर बसे स्तेपी के उस गांव में जा पहुंचता। वहां साग-सब्ज़ियों के खेतों में घूमता-फिरता, खीरे चुराता, गौरैयां पकड़ता और गांव के लड़कों से मुक्का-मुक्की करता, पर वह दादी स्पिरिदोनिख़ा के यहां ज़रूर आता। दादी उसे गाजर-भरे समोसे और पोस्ते के बीजों के केक खिलाती, और जंगल और पानी में बसनेवाले भूतों, प्रेतों और चुड़ैलों के क़िस्से सुनाती। वह विदेशों की बात करती, और सागर-पार के दूर बसे नगरों की कहानी सुनाती।

अंद्रेइका उसके पैरों के पास बैठता, गाजर के समोसे मज़े ले लेकर खाता, पर दादी के चेहरे पर से निगाहें पल भर को भी न हटाता। वह अपने काम से रूखे हुए हाथों से उसका सिर सहलाती, और कहती:

"वहां जो मकान हैं न, वे बहुत बड़े और ऊंचे हैं। और, उनमें घनी लोग रहते हैं। वे लोग ख़ूब बढ़िया कपड़े पहनते हैं और उन्हें साल में कोई काम नहीं करना पड़ता।"

"और, वे मछली भी नहीं पकड़ते?"

"मछली? अरे, वे कमरे में झाड़ू-बोहारू तक नहीं करते!"

"दादी, मैं एक बार दादा के साथ उस पार गया था, तागानरोग नगर में: मकान वहां इतने बड़े थे और गिरजों पर सोने के सलीब लगे थे। समुंदर के किनारे औरतें टहल रही थीं और सब के सिर परों से

ढके हुए थे... दादी, वहां मैंने एक इंगलिस जहाज़ भी देखा था, जहाज़ पर बड़े-बड़े लोग थे और वे सब के सब टयूबों से हमें ऐसे देख रहे थे।"

कुछ देर तक अंद्रेइका चुपचाप खाता रहता और फिर पूछता:

"दादी, ये पनकीड़े कहां से आते हैं? कोई किनारे-किनारे चले न, और उसका पैर गीली बालू में धंस जाये न, तो ये पैरों पर रेंगने लगते हैं।"

"बेटे, पानी से ही और क्या... बेचारा अनाथ बच्चा, लो, एक समोसा और लो, पेट पड़े गुन करेगा।"

"दादी, दादा कहते हैं कि मेरी मां हमारे मकान के पास ही बर्फ़ में अकड़कर मर गई थी।"

"वह मर गई, बेटे, वह मर गई, वह सरदी से ठिठुरकर मर गई। ऐसी सरदी थी उस रात कि कुछ न पूछो, बर्फ़ीली आंधी चल रही थी। बेचारी अकुलीना मित्रेव्ना—ईश्वर उसकी आत्मा को शांति दे—उसने तुम्हारी जान तो जैसे-तैसे बचा ही ली और, फिर दादा अगाफ़ोन ने भी तुम्हारे लिए कुछ कम नहीं किया—परमात्मा उन्हें बड़ी उम्र दे।"

"दादा तो मुझे हर वक़्त मारते ही रहते हैं, दादी, और ऐसे मारते हैं कि मुझे बड़ी चोट लगती है। अगर वे मार बंद नहीं करेंगे, तो मैं दादा के पास से भाग जाऊंगा।"

"बेवकूफ़ हो तुम, बच्चे हो, इसमें तो तुम्हारी ही भलाई है,—दादा तुम्हारी भलाई के लिए तुम्हें मारते हैं, तुम्हें मार कर वे सुखी नहीं होते, वह तुम्हें भले रास्ते पर लगाना चाहते हैं, तुम्हें अच्छी सीख देना चाहते हैं। याद रखना, उनके ख़िलाफ़ कभी न जाना, और उनका कहा मानना।"

दादी स्पिरिदोनिख़ा ही दुनिया में एक अकेली ऐसी थीं, जिसके पास रहने पर अंद्रेइका को सुख और संतोष मिलता था।

दादा अगाफ़ोन घर आता तो फटे हाल, उदास और चिड़चिड़ाता हुआ। वह जालों और पालों पर निगाह डालता तो वे ज्यों के त्यों मिलते, कटे के कटे, और फटे के फटे। दूसरे ही क्षण वह अंद्रेइका पर टूट पड़ता, और उसे अधमरा कर डालता। लड़का एक-एक हफ़्ते तक चलने-फिरने लायक़ न रहता।

३

सूरज की धूप सही नहीं जा रही थी। नीले समुद्र की अनजानी गहराइयों में आसमान अपना नीला रंग घोल रहा था और हवा ऐसी जड़ बनी सी एक ही जगह जमी हुई थी। काली नाव से धूना चू रहा था; पाल झूलकर लटक रहे थे, और नाव ख़ुद ऐसी लग रही थी, जैसे कि ठीक वैसी ही दूसरी नाव से बंधी अधर में लटकी हो और दूसरी नाव, मस्तूल गिराये, उसके ठीक नीचे खड़ी हो।

फंसी हुई मछलियां नाव के किनारे-किनारे इधर-उधर दौड़ती रहीं, और अंद्रेइका उन्हें जाल से बाहर निकालने में अपने दादा की मदद बराबर करता रहा। एक पल को भी कमर सीधी न की। उसका चेहरा जलने लगा, मुंह खुल गया और पसीने की बूंदें चू-चूकर समुद्र में गिरने लगतीं। हांफती, छटपटाती मछलियों का नाव में अंबार लगा था, और नाव बोझ के कारण पानी में नीचे बैठी जाती थी।

दादा की ज़बरदस्त मार के कारण कमर पर पड़े नीलों में दर्द से टीसें होने लगीं, तो उसके दिमाग़ में उल्टे-सीधे विचार आने लगे। सबसे पहले तो उसने अपना सारा ग़ुस्सा उस शफ़री मछली पर उतारा, जिसके इस तरह चालाकी से भाग निकलने के कारण ही उसकी मुसीबत आई थी।

वह ग़ुस्से से लाल होकर सोचने लगा :

"ठीक है, कुप्पे जैसे पेटवाली चुड़ैल, एक बार फिर हाथ आ जा तू, फिर देखूंगा कि कैसे हाथ से निकल जाती है! अभी से कहे देता हूं, एक ज़ोर का घूंसा लगाऊंगा इस गलफड़े पर, और दूसरा उस गलफड़े पर, तेरी ऐंठ और अकड़ फिर देखूंगा, तब मैं पूरा बदला निकालूंगा!.."

पर, शफ़री ने बुद्धिमानी की और उसके हाथ ही नहीं लगी। इस पर अंद्रेइका का दिमाग़ दूसरी ओर घूम गया :

"मैं इस आदमी का लड़का हूं, या ग़ुलाम? क्या हूं कि जो हाथ में आया, उसी से मारना शुरू कर देता है? उई, कैसी जलन हो रही है, क़मीज़ तक चीर दी। मैं भाग जाऊंगा, भगवान क़सम, मैं इसके पास से भाग जाऊंगा!.. शहर जाकर कोई नौकरी कर लूंगा या किनारे के जाल खींचनेवाले मछुओं में मिल जाऊंगा, चलाये वह

मेरे बिना अपना काम! और, ऐसे ही नहीं जाऊंगा, नाव में एक छेद करके कपड़ा ठूंस दूंगा उसमें, इसके बाद स्तेपी के टीले पर जाकर लेट जाऊंगा और पड़ा-पड़ा दूर से तमाशा देखूंगा। जब वह नाव लेकर समुद्र में उतरेगा तो कपड़ा पानी से बह जायेगा और वह डूबने लगेगा। डूबने से पहले वह गला फाड़कर चिल्लायेगा: अंद्रेइका, मैं डूब रहा हूं, मैं डूब रहा हूं, अंद्रेइका!' और, मैं वैसे ही चीख़कर जवाब दूंगा: 'आ-हा! याद है, तुमने मुझे किस-किस तरह मारा था? तुमने ऐसे मारा कि पीठ पर की कमीज़ तक फट गई! ..'"

जल्दी ही गरमी और थकान अंद्रेइका को सताने लगी, तो उसके मन की खीझ शांत होने लगी। दादा को उसके मन के षडयंत्रों का क्या पता! वह उसी तरह नाव के पिछले हिस्से में खड़ा जाल से मछलियां निकाल रहा था, और पाइप में कश लगा रहा था। बूढ़ा पूरा मन, लगाकर तरीक़े से काम करता था। उसे बेकार बक-बक करना पसंद नहीं था। आज के शिकार से वह संतुष्ट था, और उसकी घनी, रूखी भौंहें ज़रा और ऊपर को खिंच गईं। मन में आशा जगी कि शाम तक लगभग सभी जाल देख लेंगे और रात तक घर पहुंच जायेंगे।

सहसा ही उसकी आवाज़ अंद्रेइका के कान में पड़ी:

"अंद्रेइका, जाल नीचे गिरा दो, और पाल चढ़ा दो!"

अंद्रेइका बूढ़े को घूरने लगा: क्या हो गया है इसे? अभी तो आधे जाल देखे भी नहीं, लगता है कि मछलियों का समूह गुज़र गया, इसलिए जाल ऊपर तक भर गये होंगे, जाने कितनी-कितनी मछलियां भरी होंगी और, रात से पहले तो हम वैसे भी कभी घर नहीं लौटते, फिर अब हुआ क्या? पर, बूढ़े को हुक्म दोहराना पसंद नहीं था, इसलिए अंद्रेइका ने दूसरे ही क्षण मछलियों समेत जाल वापिस पानी में डाल दिये। इसके बाद उसने जल्दी-जल्दी पाल और गांठों को सुलझाकर ठीक किया।

"पाल आधा खोलो और नीचे से लपेट दो।"

लड़का जल्दी-जल्दी हुक्म बजाता रहा, पर किसी तरह का कोई सवाल करने की उसकी हिम्मत न पड़ी। वैसे तो भारी तूफ़ान आने का डर होता है तभी आधा पाल खोलकर, नीचे से लपेटते हैं ताकि हवा तेज़ हो तो झट से पाल नीचा कर दिया जाये। लेकिन, इस समय तो कुछ भी ऐसा

नहीं है। हर तरफ़ हर चीज़ उसी तरह जड़ है। उमस भरी गरमी है। सांस लेना मुश्किल है। अगम्य ऊंचाई और अतल गहराई—दोनों में मानो दो हल्के नीले आसमान झलक रहे हैं—बीच का पानी अदृश्य है।

"पतवार संभालो!"

अंद्रेइका ने आज्ञा सुनते ही पतवार पकड़कर खेना शुरू कर दिया। माथे से पसीना चूने लगा।

सहसा ही एक झकाझक सफ़ेद बादल समुद्र के ऊपर तैरता लगा। बादल बहुत ऊंचाई पर न था, उसके सिरे कटे-फटे थे, और कहीं से निकाली बिखरी रुई सा मालूम पड़ता था। दूसरे ही क्षण अब तक की उमस, जड़ता और निस्तब्धता का वातावरण अस्त-व्यस्त हो गया। दादा ने पहले तो इस छोटे से बादल पर एक नज़र डाली, और फिर दूर के उस क्षितिज पर। वहां आसमान और पानी कहीं दूर की नीलिमा में डूब रहे थे। वहीं दूर से बादल पर बादल उमड़ने लगे—गोल-गोल फूले हुए से, एक-दूसरे पर चढ़ते-उतरते। वे इतनी जल्दी घिर कर आये थे कि पहले की पूर्ण निस्तब्धता में अनुमान भी नहीं किया जा सकता था।

अंद्रेइका दर्द, गरमी और मेहनत के कारण हांफ रहा था। उसे अजीब बेचैनी सी हो रही थी। एक क्षण पहले के साफ़ आकाश में बादल ही बादल उमड़ने-घुमड़ने लगे। यह बादल एक तरफ़ से चांदी से चमचमा रहे थे, दूसरी ओर से अपशकुन से काले नज़र आ रहे थे। अब तक दादा बराबर अंद्रेइका से ही ज़ोर लगाकर नाव खेने के लिए कह रहा था, अब उसने डांड़ ख़ुद संभाले, और बोझ से भरी नाव जल्दी-जल्दी तट की दिशा में बढ़ाने लगा।

जिधर से बादल उमड़े थे, उधर से ही, अचानक ही, अनगिनत लहरियों से बुनी एक काली, पतली जलधारा उभरी, और समुद्र की सतह पर आर-पार फैल गई। उसका आकार बढ़ता जा रहा था, और बढ़ते-बढ़ते वह नाव तक पहुंच गई। इसी समय हवा चलने लगी तो पाल फड़फड़ाने लगा और अंद्रेइका की पीठ की क़मीज़ उड़ने सी लगी। हवा छोटी-छोटी लहरों को लिए आगे ही आगे बढ़ती गई। समुद्र की शीशे सी सतह काली दिखने लगी।

फिर जड़, उमसभरा वातावरण। फिर समुद्र की सतह दर्पण सी निर्मल लगने लगी, और पाल बेबसी से झूलने लगा।

दादा खिन्न था, माथे पर बल पड़ गये थे। उसने अपनी जगह से उठकर डांड़ संभालकर रखे, गद्दी के नीचे से कोट निकाला, पहना, कसकर पेटी बांधी, नाव के पिछले भाग में बैठा, और कड़े में पाल का रस्सा फंसाकर पतवार का हत्था संभाल लिया।

दूसरे ही क्षण समुद्र की सतह पर बिखरी काली लहरों के बीच-बीच में साफ़ और शांत झलकते पानी में बादलों की परछाइयां भाग रही थीं। फिर अचानक आर-पार दूर-दूर तक निसीम फैला सागर एक छोर से दूसरे छोर तक काला हो उठा।

कानों में सन-सन करती हवा से दादा और अंद्रेइका के शरीर में ठंडी लहर दौड़ रही थी। पल भर में वह पाल में भर गई। डांड़ों के आगे एक लहर सी उठाती, शोर करती नाव ढकेली गई सी आगे बढ़ चली, जैसे कि वह बादलों की दौड़ती परछाइयों की गति से गति मिला रही हो। साथ-साथ झागों की एक लंबी लाइन उठती गई।

हवा ने इस बीच तूफ़ान का रूप ग्रहण कर लिया। किंतु, यद्यपि जल और भी काला होता जा रहा था, पर हवा के झोंके शांत सागर को तुरंत ही क्षुब्ध न कर सके। दादा गरमी के इन आकस्मिक तूफ़ानों से भली भांति परिचित था। यह तूफ़ान दूर, कहीं बहुत दूर मानो गुस्से में जमा होते, फिर आगे बढ़ते हुए और अपने साथ तैयार ऊंची-ऊंची लहरें ले आते। ये लहरें ऐसी उफनतीं-उमड़तीं कि क्षण भर पहले के समुद्र की चिकनी, हमवार सतह विक्षुब्ध हो जाती। इसीलिए दादा ने नाव उलटने का ख़तरे होते हुए भी पाल को हवा से खुलकर खेलने दिया। और नाव इतनी तेज़ी से लहरों पर दौड़ने लगी कि कहीं निगाहें जमाना मुश्किल हो गया। झाग उगलता हुआ पानी इस तरह नाव के पास से गुज़रने लगा, जैसे किसी दौड़ती हुई गाड़ी के पास से गुज़र रहा हो। दूर किनारे की धुंधली रेखा स्पष्ट होती गई।

लहरें और आईं–विध्वंसकारी सेना की भांति–उठती जलराशि की हरी वर्दी पहने, अपने सफ़ेद सिर हिलाती-डुलाती, और, फिर तो प्रलय आ गई।

नाव का अगला हिस्सा पानी में डूबा जा रहा था, हवा से फुहार उड़ाती, ऊंचे-ऊंचे शिखरों वाली विकराल लहरें कभी न रुकनेवाले जुलूस की तरह फुफकारती, गरजती नाव पर टूट पड़ीं। उनके शिखर बार-बार नाव के किनारों पर बिखरकर फैल जाते। पाल के रस्से भीगकर तन गये, जिसके खिंचाव से मस्तूल झुक गया और पाल तेज़ हवा के झोंकों से थरथराता हुआ बौछारों से एकदम भीग गया। इस तूफ़ान का शोर आसमान तक पहुंच गया। मैली रुई के टुकड़ों से काले, बिखरे बादल आसमान में इस पार से उस पार तक दौड़ लगा रहे थे। ऐसे शोर में नाव के जोड़ों के चटखने की आवाज़ या मनुष्य के चिल्लाने की आवाज़ भी सुनाई नहीं पड़ती थी।

अंद्रेइका मस्तूल से चिपटा बैठा था। वह दादा के होंठ तो हिलते देख सकता था, लेकिन उसकी आवाज़ नहीं सुन पा रहा था। उसने कांपते हुए मस्तूल को कसकर पकड़े-पकड़े विद्रोही, उफनती-गरजती लहरों को देखा, जो अंतहीन और अविराम गति से उनकी अकेली और असहाय नाव पर गिर-गिरकर टूट रही थीं। नाव पानी में एक ओर से इतना झुक जाती कि फड़फड़ाता पाल पानी को छू लेता, फिर सीधा होकर उठती लहर के ऊपर चढ़ जाती, तो उस क्षण अंद्रेइका को मीलों दूर सागर-तट, बेंत का पुराना पेड़ और किनारे पर खड़ा छोटा मकान दिख जाता।

अंद्रेइका बहुत ज़्यादा डरा नहीं। तूफ़ानों का तो वह आदी था। पर अंदर के किसी तनाव से उसका सारा तन-बदन कस उठा। वैसे दादा का हुक्म मानने की उसे आदत थी, और उस पर उसे इतना भरोसा था कि किसी तरह की भय-चिंता का ख़याल भी उसे नहीं आया, यद्यपि लहरें किनारों पर टूट-टूटकर नाव में पानी भरे जा रही थीं, और नाव लहरों पर और भी भारीपन से चढ़ने-उतरने लगी थी। लड़के ने पानी उलीचना शुरू किया, पर बेकार।

बौछारों के बादल और हवा से उठते झागों में दादा दिखाई भी नहीं दे रहा था। वह पिछले हिस्से में बैठा नाव खे रहा था। और हवा से रह-रहकर डगमगा देने पर वह पाल ढीला कर देता था। बूढ़े के झुर्रियों से भरे, सख़्त, पानी से तर चेहरे पर गंभीरता थी और वह अपने काम में एकाग्रचित्त था। अंद्रेइका लहरों पर उछलती, उतरती नाव में हिचकोले खा रहा था। सहसा ही दादा ने इशारा किया, और लड़का

घुटनों के बल चलकर पानी और मछलियों के बीच से बूढ़े की ओर बढ़ा। जब वह वहां पहुंचा, तो बूढ़े ने झुककर और उसके कानों से मुंह लगाकर चीख़कर कहा :

"मछलियां नाव से बाहर फेंक दो!"

अंद्रेइका की आंखें आश्चर्य से फैल गईं, और वह दादा को घूरने लगा, पर दादा ने उसे धक्का दिया। मछलियां अब भी ज़िंदा थीं और तड़प रही थीं। लड़का कांपते हुए हाथों से उन्हें उठा-उठाकर पानी में फेंकने लगा। ख़तरे की भयानकता केवल इस समय उसकी समझ में आई उसका मन निराशा से भर उठा। अब एक हाथ से नाव का सिरा थामे दूसरे हाथ से और जल्दी-जल्दी मछलियां पानी में फेंकने लगा। वह फूट-फूटकर रोने लगा और कातर-कंठ से विलाप करने लगा :

'ई-ई-ई:... अई-अई... हम डूब रहे हैं! .. म-म-मदद करो... को-ई म-द-द करो! .. हम डूब रहे हैं। अरे, हम डू-ऊ-ब रहे हैं!"

पर, उसकी दर्द भरी आवाज़ हवा उड़ा ले गई। लहरें उसी तरह बौछार और फुहार उठाती नाव के किनारों से टकराती रहीं।

अंद्रेइका ने सारी मछलियां पानी में फेंक दीं। नाव हलकी हो गई, तो उड़ चली। किनारा नज़दीक आने लगा। बरसात से बने नाले-नालियों की मिट्टी झलकने लगी, तट की सुनहली बालू चमकने लगी, और किनारे पर पड़ी पुरानी नावों के काले पड़े, टूटे-फूटे ढांचे दिखलाई पड़ने लगे। पानी उलीचते-उलीचते अंद्रेइका प्रार्थना करने लगा। वह उस सफ़ेद दाढ़ी वाले बूढ़े से विनती करने लगा, जिसकी मूर्त्ति गिरजे के कोने में खड़ी हुई थी। मूर्त्ति पुरानी होने के कारण काली पड़ चली थी, और दादा सदा इसी के सामने अपनी मोमबत्तियां जलाकर रखता था। अंद्रेइका को लगा कि अभी नाव हलकी हो जायेगी, लहरों के फेन से मढ़े शिखर नाव पर टकराना बंद कर देंगे। पर, नहीं, अंतर कोई नहीं पड़ा। पानी के पहाड़ उसी तरह गरज-गरजकर नाव पर टूटते रहे, झाग उसी तरह से उधर उड़ता रहा, और मटमैले बादल उसी तरह आसमान के आरपार भागते रहे।

गरजती-उफनती ऊंची लहरों के शिखरों के बीच से सहसा ही हवा का एक झोंका आया। पाल बिलकुल नीचे झुक गया। नाव बेबस सी एक

ओर को झुक गई और इसी समय एक विकराल लहर नाव के किनारे पर आ टकराई।

सिर से पैर तक पानी से भीगे अंद्रेइका ने मस्तूल दोनों हाथों से कसकर पकड़ लिया। पर, मुंह में खारा पानी भर जाने के कारण उसका दम फूलने लगा। बूढ़े का धूप में काला पड़ा चेहरा पीला पड़ गया था, और नीचे का जबड़ा ज़ोर से हिल रहा था। वह पागलों की तरह छाती के बल नाव के ऊपर उठे हुए पहलू पर झुक गया। नाव सीधी तो हो गई पर, पानी से आधी भर गई थी और बड़ी मुश्किल से आनेवाली लहरों के ऊपर चढ़ पाती थी। लहरें और भयानक हो उठीं और भी जल्दी-जल्दी आ-आकर ज़ोरों से नाव से टकराने लगीं। अंद्रेइका को हर क्षण लगता था कि वे अब डूबे, जब डूबे। उसका दिल डर से बैठने लगा और वह हाथों और पैरों के बल खिसकता हुआ दादा की ओर बढ़ा।

"दादा, मुझे डर लग रहा है! .."

दादा का मौत की तरह पीला चेहरा गंभीर बना था और उसका निचला जबड़ा कांप रहा था। उसने अंद्रेइका को खींचकर अपनी गद्दी पर बिठाया और पतवार और पाल के रस्से का एक सिरा उसके हाथों में थमा दिया :

"बेंत के पेड़ की तरफ़ बढ़ो!"

बूढ़ा पूरे ज़ोर से चीखा, पर तूफ़ान के शोर में अंद्रेइका की समझ में कुछ न आया। उसने केवल यह देखा कि दादा ने पहले तो टोपी उतारी और भारी बूट उतारकर फेंके, फिर सीने पर सलीब का निशान बनाया, फिर हाथ फैलाये और पानी में छलांग लगा दी। नाव हलकी होकर पाल में हवा भरे लहरों पर दौड़ने सी लगी।

इस समय समुद्र की सतह पर झाग ऐसे लग रहे थे, जैसे स्तेपी में बर्फ़ानी अंधड़ आता है तो हर तरफ़ बर्फ़ ही बर्फ़ बिछ जाती है। नाव को गले लगाने के लिए किनारा आगे बढ़ा, और किनारे की सारी चीज़ें स्पष्ट होने लगीं—बरसात से बने नाले-नालियों की मिट्टी, टूटी हुई नावों के काले पड़ते ढांचे, सफ़ेद, छोटा सा मकान और मकान के पास बेंत का पुराना पेड़।

यह सोचकर कि उसकी जान बच गई है, अंद्रेइका का मन ख़ुशी से नाच उठा।

पतवार बग़ल में दबाये और पाल का रस्सा हाथ में लपेटे उसने मुड़कर देखा तो दूर, बहुत दूरी पर, लहरों और फेन के बीच उसे एक काला सा सिर डूबता-उठता नज़र आया। यह सिर लहरों के साथ उठता और गिरता, कभी दिखलाई पड़ने लगता तो कभी आंखों से ओझल हो जाता। अंद्रेइका ने अब तक जब-जब अपने दादा की बात सोची थी, तब-तब उसे एक ऐसी ताक़त माना था, जिसका सामना कभी कोई कर ही न सके। पर, इस समय लहरों के साथ बेबसी से ऊपर-नीचे होते उस सिर को देखा, तो वह स्तब्ध हो गया और वह अपनी बचकानी, हृदय वेध देनेवाली आवाज़ से चीख़ने लगा :

"दा-आ-आ-दा-आ-आ! .. दा-दा-आ-आ! .."

अपनी आंखों के ख़ारे आंसू पीते, और चेहरे पर बार-बार उछलकर आनेवाली बौछार का पानी गले के नीचे उतारते हुए, लड़के ने पूरी ताक़त से पतवार मोड़ दी। नाव कांपी, एक ओर को झुकी, तेज़ी से मुड़ी, और उल्टी हवा को सामने पाकर उसने एक चक्कर सा काटा, जैसे कि एक पल ठिठककर कुछ सोचने लगी हो। पाल गिर गया और तेज़ी से हवा में फड़फड़ाने लगा। अंद्रेइका अब भी बिलख रहा था, पर उसने झटके से पूरी की पूरी पतवार मोड़ दी। नाव फिर घूमी। दूसरी ओर की हवा पाल में भर गई और पाल पूरी तरह फूल गया। अब नाव दौड़ती सी जैसे-जैसे आगे बढ़ी, वैसे-वैसे पानी में गहरे धंसी, और उतना ही अधिक पानी उछल-उछलकर नाव के पिछले हिस्से में भर गया। देखते-देखते किनारा दूर रह गया और नाव बीच समुद्र में वापस पहुंच गई। वहीं जहां गरजती, एक दूसरे पर चढ़ती-उतरती, मौत सी भयानक लहरें आगे झपटी चली आ रही थीं, वहीं जहां दादा का काला सिर बेबसी से कभी ऊपर उठता था, कभी आंखों से ओझल हो जाता था...

'दा-दा-आ! .. दा-आ-दा-आ-आ-आ! .."

१६०३

चट्टान के नीचे*

१

आसमान में सांझ के धुंधलके की नीलिमा छा गई – दूर, नदी के मोड़ तक, बालू के पीले फैलाव पर, किनारे के पहाड़ की चट्टान तक और दूर के जंगल की ख़ामोशी तक।

आवाज़ें धीमी होने लगीं, रंग हल्के पड़ गये, और थकी धरती के चेहरे पर धीरे-धीरे विश्रांति का एक कोमल सा आवरण पड़ गया। ऊपर के आकाश का रंग गहरा हो गया और रुपहले सितारे जहां-तहां जगमगाने लगे।

ऊंचे किनारे की पृष्ठभूमि में बजरे और उसके पीछे की नाव की जाने कब से आकृति भर नज़र आती थी और अब तो वह भी काले धब्बे सी लगने लगी थी। पानी की बिलकुल कोर पर आग की नाचती लाल-लाल लपटें हर ओर प्रतिबिम्बित हो रही थीं। आग के ऊपर टंगी देग़ची में उबलती चीज़ के उफान के अंगारों पर गिरने से सूं-सूं की आवाज़ हो रही थी। बालू के संकरे हिस्से पर लंबी-लंबी परछाइयां कुछ खोज-सी रही थीं। वे कभी आगे बढ़तीं, कभी पीछे हटतीं। उनके पास की चट्टान अनमनी सी उनके ऊपर उठी थी। उसकी लाल मिट्टी दूर से हल्के-हल्के झलकती रही।

रात मौन थी, पर इस मौन में बहते हुए पानी की कलकल सुन पड़ती थी। यह कलकल कभी फुसफुसाती, कभी उतावली और परेशान, कभी कतरनी सी जीभ चला-चलाकर किसी का मज़ाक़ उड़ाती, कभी

ऊंघती सी सपनों में खोई सी। पर नदी शांत थी, उसकी झिलमिलाती सतह पर कोई हलचल नहीं थी।

कभी कोई मछली कहीं उछली तो पानी का छपाका हुआ। कभी कोई पक्षी कहीं बोला, कभी किसी स्टीमर के नीचे के पहिये आवाज़ करने लगे। पर शायद यह सब कुछ कल्पना ही थी। इसके बाद फिर वही धीमे स्वर–कठिनाई से ही सुनाई देनेवाले, कभी नींद में डूबे से, कभी बुझते से फिर गति पकड़ते। भीगती रात के घिरते अंधकार में नदी उसी तरह शांत मन से अपने रास्ते पर बढ़ती रही।

कोई बोला :

"आवाज़ से ऐसा लगता है कि 'येरमाक' आ रहा है।"

"नहीं हो सकता! वह कहीं कुतिया तट पर अटका हुआ है..."

किसी आदमी के ये आकस्मिक साफ़, सरल शब्द हवा में गूंजे और फिर गंभीर, शांत नदी की फुसफुसाहट में डूब गये। फुसफुसाहट में अजब अबोध्य आकुलता थी।

लपटती आग के पास छिपी बैठी परछाईं सहसा ही तनी, वहां से चली, अटपटी सी चट्टान की चोटी पर झुकी, और स्तेपी के अंधेरे में खो गई। स्तेपी से बटेरों की आवाज़ सुनाई दे रही थी, और ताज़ा कटी घास की ख़ुशबू आ रही थी। आग के पीछे से एक लंबे हाथ-पैरों वाला बृहत्काय आदमी मोटी सूती कमीज़ पहने उठा। उसने चम्मच से बरतन में उबलते हुए पानी का उफान हटाया और उसमें मुट्ठी भर बाजरा डाल दिया। पानी की खुदबुद तुरंत ही ख़त्म हो गई, और छाया स्तेपी से लौटकर फिर आग के पास छिप गई। लंबा आदमी घुटनों को हाथों से घेरे, स्थिर बैठा चमचमाती नदी, दूर के कुहरे में ओझल होते जंगल और नदी के किनारे पर दृष्टि जमाये रहा।

थोड़ी दूरी पर एक काला सा मानव आकार बालू पर जड़–देखने में मरा सा पड़ा था।

आदमी का चेहरा नजर नहीं आ रहा था।

यह कहना कठिन था कि वह सो रहा है या किन्हीं विचारों में खोया हुआ है, बीमार है या मर चुका है।

वन में, नदी के मोड़ पर, दूर रेतीले किनारे–सब स्थानों में अंधकार व्याप्त हो गया। कुछ कालिमा लिए हुए झिलमिले पानी में ही

असंख्य उज्ज्वल तारे बिखरे थे, जिससे वह अतल सा प्रतीत हो रहा था।

लगता था कि हर चीज़ ठीक उसी हालत में है, जिस में उसे होना चाहिए था – सपनों में खोये से, कलकल करते पानी के पास, चट्टान के नीचे, इस नीली रात के समय आग होनी ही चाहिए और आसपास के तीन आदमियों की आकृति पर हवा में लहराती लपटों की थोड़ी-बहुत रोशनी पड़नी ही चाहिए। पहला बेडौल आदमी मूर्ति की तरह बैठा हुआ था, और उसने अपने घुटने हाथों से घेरे हुए थे। दूसरा काला सा आदमी गतिहीन बालू पर लेटा हुआ था। तीसरा व्यक्ति उम्र में बड़ा, चौड़ी दाढ़ीवाला था, और उसके तांबे में ढाले से चेहरे से शांति और गंभीरता टपकती थी।

• ऐसा प्रतीत होता था कि कहीं कोई मौन, निश्शब्द बड़ी आकुलता से गा रहा है। निश्चय ही, यह सब कल्पना-मात्र था – सांझ के नीले धुंधलके के पीछे छिपी नदी, आग, चट्टान की धुंधली आकृति और अंधकारपूर्ण जल की गहराई में, हल्के झिलमिलाते हुए तारे।

"समय आ गया। मानव-जीवन दूब की भांति प्रकट होता है..."

स्वर संतुलित, शांत और धीमा था। सारा दृश्य इतना अनुद्विग्न था कि किसका स्वर है, यह कहा नहीं जा सकता था।

सतत, अमिट और सपनों में डूबी-डूबी सी फुसफुसाहट के बीच इस स्वर का नीली रात से वही संबंध मालूम होता था, जो गंभीरता से ऊंचे ही ऊंचे उठती चली गई चट्टान का, पानी की कलकल का, आग का, या बालू के ऊपर चुपचाप भाग-दौड़ करनेवाली आग की परछाईं का।

• "...दूब की तरह, वसंत के शुरू में काली मिट्टी से उगनेवाली घास की तरह।"

"हा-हा... वह तो उगती ही आई है, और कोई उसे उगने से रोक नहीं सकता।"

• दूसरे किनारे पर कोई अस्पष्ट और धीमे-धीमे स्वर में चिल्लाया: "...हा-आ-आ!"

जो आदमी हाथों से घुटने घेरे बैठा था, वह चुप हो गया। बालू पर पड़ा धुंधली आकृतिवाला भी चुप हो गया, और तांबे के रंगवाला,

चंचल चेहरेवाला बूढ़ा भी ख़ामोश हो गया। वह अलाव से छिटककर गिरते अंगारों को आलस्य के साथ हाथों से आग में वापस फेंक देता था। ऐसे में एक अधूरा सा विचार किसी के भी दिमाग़ में आ जाता कि नीली रात ख़ुद भी किसी सोच-विचार में पड़ी है।

हृदय-विदारक, अकुला देनेवाली चीख़ इस पार से उस पार तक गूंज गई।

इसके बाद फिर मौन उदासी छा गई, फिर जैसे हर चीज़ विचारों में डूब गई और, बिना रुके-थमे बराबर जल्दी-जल्दी दौड़नेवाले, पानी के कलकल का मंद स्वर फिर आने लगा। हर ओर से अंधेरा बरसने लगा, और इस अंधेरे के बीच हल्की-हल्की झलकती चट्टान मौन खड़ी थी। उसके पीछे का स्तेपी भी शांत था। आग पर रखे बरतन में हल्का-हल्का उबाल आ रहा था और पानी के ऊपर उफान सोया सा हिल रहा था।

हृदय-विदारक चीख़ फिर नदी के ऊपर इस पार से उस पार तक लहरा गई। कोई जल-परी खिलवाड़ कर रही थी—या शायद कोई अदृश्य पक्षी नीचे उतरकर पानी के ऊपर उड़ रहा था—यह कहना असंभव था। रात—काली और मौन—चारों ओर से घिर आई।

"नदी के किनारे दूर तक की आवाज़ सुनाई देती है। 'टेढ़े मोड़' तक की आवाज़ भी यहां सुनाई पड़ जाती है।"

दोनों ने सिर झुका लिए और कान लगाकर उस धीमी, अनिश्चित सी आवाज़ की आहट लेने की कोशिश की। उन्हें स्टीमर के पैडल के पहिये की आवाज़ सुनने की आशा थी। किंतु हल्के और अस्पष्ट हज़ारों बार सुने रात्रि के विविध स्वरों में मानव-स्वर नहीं सुनाई दिया।

आग जलती रही, और पास ही दो आदमी बैठे रहे। तीसरा जड़-आकार सा बालू पर पड़ा रहा।

२

लंबे आदमी ने उठकर बरतन आग से उतारा। छायाएं इधर-उधर नाचती रहीं। इनमें से एक छाया चट्टान के ऊपर तक चढ़ी, और स्तेपी में खो गई।

"तैयार हो गया।"

उसने बरतन नीचे रखा, और उसे इस तरह घुमाया-फिराया कि उसका तला बालू में धंस गया।

"कोई नौ बज रहे होंगे... ओहो-हो-हो-ओ..."

और नदी के पार किसी ने दुहराया: "ओ-ओ-ओ..."

"उस लड़के से आकर हमारे साथ खाने को कहो—काफ़ी भूखा मालूम होता है।"

बूढ़े ने जेब से एक चम्मच निकाला, और उसे गांठ-गंठीली तर्जनी से रगड़ने लगा।

"ए लड़के, खाना चाहते हो, तो आकर हमारे साथ खा लो," लंबा आदमी काले, जड़ पड़े व्यक्ति के ऊपर झुका।

"अरे... अरे... अरे... आख़िर किधर?.. रुको-रुको!.. ठहरो, भाई!.." तीसरा आदमी उछलते और कांपते हुए चीख़ा।

"क्या हुआ तुम्हें?.. मैंने कहा कि हमारे साथ खाना खा लो।"

जवान ने चारों ओर एक अचरजभरी निगाह डाली, और उसकी समझ में कुछ भी न आया—न वह अंधेरा, न वे धुंधली-धुंधली आकृतियां, न वह रात की ख़ामोशी, न नदी की मंद कलकल, और न पानी में छनती, हवा में लहराती लाल सी रोशनी। उसने अपने मुंह पर इस तरह हाथ फेरा, जैसे कि मकड़ी का जाला झाड़ रहा हो। वह कोमल पड़ा, और मुस्कराया—दर्द भरी, बेबस मुस्कान।

"देखो न, मुझे फिर बुरे-बुरे सपने आने लगे..."

आग की रोशनी पड़ी तो उसका बेहद दुबला, पीड़ित चेहरा नज़र आया—बड़े, काले छल्लों के बीच से झांकती हुई, जलती-जलती सी, कहीं दूर पर गड़ी सी उसकी आंखें थीं।

वे बरतन के चारों ओर, बालू पर पालथी लगाकर बैठ गये और ज़ोर-ज़ोर से फूंक मारकर दलिया खाने लगे। छायाएं बार-बार हिलती हुई, अजीब ढंग से बालू के आरपार दौड़ने लगीं।

इस प्रकार वे बहुत देर तक चुपचाप खाते रहे और इन आदमियों की खाना चबाते जबड़ों की आवाज़ें रात की सपनों में खोई, धीमी फुसफुसाहटों को अचानक भंग कर रही थीं।

भूख कुछ कम हुई, पेट कुछ भरा। मौत की सी छाया के चेहरेवाले जवान ने लंबी सांस ली:

"उःह! .. अब ठीक है..."

और फिर बेबस दर्द से मुस्कराते हुए बोला:

"मैंने दो दिन से कुछ नहीं खाया है।"

"आ कहां से रहे हो?"

"शहर से,"—फिर वही थकी सी पर विश्वस्त मुस्कान।—"यह समझो कि नरक से भागा हूं। पर, निकल कैसे पाया, मैं नहीं जानता।"

"जब तुम अभी नदी के किनारे-किनारे चले आ रहे थे तो हमने बिलकुल यही सोचा था," लंबा आदमी हंसा, "लेकिन, हमने कुछ पूछने की कोशिश नहीं की—किसी आदमी को बेकार ही परेशान करने से क्या!"

"लेकिन, तुम किसी बात से डरो नहीं... यह तो ठीक है कि स्तेपी में गश्त लगानेवाले, शहर से जो किसी तरह भाग निकले हैं, उन्हें पकड़ रहे हैं। जो उनके हाथ लग जाता है, वे उसका काम जल्दी ही ख़त्म कर देते हैं—एक गोली या फांसी—बस। पर, हमने कई लोगों की मदद की है, और उन्हें नदी के उस पार पहुंचाया है... बजरे पर जो लोगों की भीड़ रहती है, या स्टीमर पर जो लोग काम करते हैं वे सब अपने ही आदमी हैं। और, वे लोग हमारे बजरों की कभी तलाशी नहीं लेते, अगर लें तो कुछ मिल सकते हैं। ख़ैर तो, तुम शहर में करते क्या थे?"

"कम्पोज़ीटर हूं," उसने अपने कंधे इस तरह सिकोड़े जैसे कि ठंड लग रही हो और उसने डर से मुड़कर देखा।

लंबे आदमी ने एक चम्मच दलिया लिया, उसमें फूंक मारी, और होंठ लगाकर इस तरह ज़ोर से सुड़कने लगा कि मुंह भर हवा भी साथ ही अंदर चली गई।

जलपरी या रात्रि के पक्षी की आवाज़ें फिर नदी पर से गुज़रीं। इसी समय कोई मछली पानी के बाहर उछली तो छपाका हुआ, पर, अंधेरे में पानी के छोरों का बढ़ना दिखलाई न पड़ा। बूढ़ा चुपचाप खाता रहा।

"मैं नदी के किनारे-किनारे बढ़ता रहा, और किसी भी चीज़ पर निगाह पड़ते ही मैं पानी में डुबकी लगा लेता... कल सारे दिन, रात

होने तक, पानी में बैठा रहा। दलदल खोदा, उसमें जमा, सेवार के बीच सिर छिपाया, और बस।"

उसने चम्मच एक ओर रख दिया, और सिर झुकाकर बैठ गया। उसका दिमाग़ उस गरम रात और उस जलती हुई आग से कहीं दूर चला गया। आंखें धुंधला उठीं।

"जो कुछ हुआ, उसकी याद से भी डर लगता है। ख़ून, ख़ून, ख़ून!.. और, इस तरह जाने कितने मरे!.."

फिर उसने सहमकर चारों ओर देखा। और फिर कंधे सिकोड़े, जैसे ठंड लग रही हो।

"मैं थक गया हूं... थकान है, और बड़ा दर्द है... हाथ-पैरों में इतना नहीं, जितना दिल में। दिल टीसता है, मेरे अंदर की हर चीज़ जवाब दे गई है, लगता है कि ज़िंदगी ही टूट गई है..."

उसने फिर मुड़कर देखा, और उसकी निगाहें उस अंधकार, आग और आसपास के लोगों से कहीं दूर गड़ गईं, जैसे कि विनाश और संहार के दानवों ने सभी कुछ छिपा लिया हो, और जाने के लिए कहीं जगह न हो।

"सबसे बुरी बात तो यह है," वह सहसा ही फूट पड़ा, "कितना तो किया-कराया पानी हो गया! अपने यहां के लोगों को झकझोर कर जगाना, और उनके दिमाग़ में अक़्ल की बात ठूंसना कोई मामूली काम तो है नहीं!.. आप दिमाग़ पर हथौड़े पर हथौड़े जमाते रहिये, उन्हें पढ़ाते रहिये, सिखाते रहिये, पर वे हैं कि करेंगे वही जो अब तक करते रहे हैं, मरियल घोड़ी की तरह सिर्फ़ कोड़े का हुक्म मानेंगे, भूखे मरेंगे, पर वोदका ज़रूर पियेंगे... उफ़! हमें कितना समय लगाना पड़ा और कितनी मेहनत करनी पड़ी है! और, तब कहीं कुछ उनकी समझ में आया है, समाजों में उनका संगठन किया, पढ़ना सिखाया, लिखना सिखाया, सोचना सिखाया, तब उन्हें कुछ अक़्ल आई है। इस सिलसिले में कितने लोग जेलख़ानों में गये हैं, और कितने लोगों को देशनिकाला दिया गया है! जी हां, और, लोग भी कैसे-कैसे!.. एक-एक ईंट जोड़कर इमारत खड़ी की, पर, इसके बाद ही अर्रर्रर्र-भर्र!.. इमारत भरभराकर गिर पड़ी, और सब समाप्त!.."

उसे कुछ नज़र नहीं आया, तो उसने मुड़कर फिर देखने की

कोशिश की, उसकी निगाहें रात की नीलिमा पार कर गईं, आवाज़ों की धीमी गूंज पीछे छोड़ गईं और नींद में डूबे नदी के किनारे की सांसों में छाये सन्नाटे के ऊपर उठ गईं।

"आ-आ-आ-ह..." वह कराह उठा, और आग के पास बैठा, ताल में अपना बदन आगे-पीछे झुलाने लगा। उसने अपना सिर दोनों हाथों में थाम लिया, जैसे कि फटकर उसके टुकड़े-टुकड़े हो जाने का डर है। इस बीच उसकी परछाईं भी उसके साथ ही साथ आगे-पीछे होती रही, विकृत परछाईं उसी तरह सिर हाथों में थामे, बड़ा सा कुरूप सिर।

नदी विनाश, टूटी आशाओं और निराशा से बचती सी रही, अपने से ही संबंधित किसी विषय पर स्वप्न में फुसफुसाती सी पानी की धारा कल-कल करती रही। इसके साथ ही तारों से भरा आसमान भीगे-भीगे से अंधेरे में हल्के-हल्के कंपकंपाता रहा। इस बीच आग में कुछ टहनियां डाली गईं, पर वे सुलगी नहीं तो धुएं की एक धुंधली-धुंधली सी रेखा, बिना इधर-उधर हिले हवा में ऊपर ही ऊपर उठती चली गई।

रात के अंधेरे में गहरी डूबी शांति और ख़ामोशी में कोई और चीज़ सहसा ही भर उठी। यह चीज़ जितनी गंभीर लगी उतनी ही अनजानी और उतनी ही अनकही।

"देखते हो, बेटे, रात का समय है, हर ओर शांति है, हर ज़र्रा नींद में डूबा हुआ है, हर चीज़ आराम कर रही है"—और ख़ुद बूढ़े की आवाज़ में गहरी शांति टपकने लगी—"आदमी, पशु-पक्षी, सांप-बिच्छू, घास-पात, हां, हां, घास-पात, यानी हर चीज़ रात में सो जाती है और सुबह होते ही जाग खड़ी होती है। इस समय हर चीज़ स्थिर और शांत है... हां-आं-आं!.."

सहसा ही नदी की ओर से किसी के धीमे-धीमे पर फड़फड़ाने की आवाज़ आई—शायद कोई चाहा-पंछी अपने घर की ओर उड़ा जा रहा था, रात तो उसके लिए भी हो गई थी।

"हां, शान्ति है... सारे दिन काम करते-करते पैर, शरीर का अंग-अंग शाम तक थकान से चूर हो जाता है... इस तरह रात के समय सारी दुनिया सो जाती है और सुबह हुई नहीं कि हर कोई फिर अपने रास्ते लग जाता है—क्या जानवर, क्या चिड़ियां और क्या इंसान। यानी, सूरज के आसमान से झांकते-झांकते सब के सब नये सिरे से काम

करने के लिए तैयार हो जाते हैं। तो, समझे न, सारी बात यह है, बेटे।"

बहुत देर तक कोई कुछ नहीं बोला। कंपोज़ीटर कंधे झुकाये बैठा ग्रासमान के ग्रार-पार जानेवाले धुएं से भरे रास्ते पर निगाहें गड़ाये रहा। लंबा ग्रादमी ग्रपना दलिया ख़त्म कर रहा था।

"दादा," किसी ने भर्राई सी ग्रावाज़ में दर्द से कहा, "सुबह होने पर हर चीज़ जाग उठेगी, पर वहां शहर में जो लोग सोये पड़े हैं, उनकी नींद तो नहीं टूटेगी, वे सोकर तब भी न जागेंगे।"

"तुम खाग्रो, बेटे, खाग्रो," बूढ़े ने मूंछ ग्रौर दाढ़ी हथेली से पोंछते हुए कहा। "ग्रोह-ग्रोह... एक बार एक किसान जुताई करने खेत में गया। वह जोतता रहा, जोतता रहा। इसके बाद उसने एक टोकरी में बीज लिया ग्रौर बोग्राई शुरू कर दी। बोग्राई की, निराई की, पानी बरसा तो ग्रंकुर फूट ग्राये, समझो कि उसने ज़मीन चीरकर ग्रंकुर खींच निकाले। किसान बड़ा ख़ुश हुग्रा—किसान को ग्रौर चाहिए क्या? वह जोतता है, बोता है, फ़सल काटता है, ग्रौर उसका पेट भर जाता है। ग्रोह-ग्रोह... हां, तो, बालों में दाना पड़ने लगा। ग्रचानक ही न जाने कहां से काला बादल उमड़ा। फिर, तूफ़ान ग्राया, ग्रोले पड़े ग्रौर पल भर में सब कुछ मिट गया: जहां ग्रभी-ग्रभी ग्रनाज था, वहां फिर बस काली धरती बची रह गई। बेचारा किसान हताश हो गया... पर, तुम क्या सोचते हो, किसान ने क्या किया? हिम्मत हार गया? हाथ पर हाथ रखकर बैठ गया? नहीं, उसने यह सब कुछ नहीं किया। बाल-बच्चों का पेट तो ग्रब भी भरना था... वह रेलवे में चला गया, ग्रौर नौकरी कर रोज़ी कमाने लगा। लेकिन, एक बार उसके पैर गाड़ी के नीचे ग्राकर कट गये। वह बहुत समय तक बीमार रहकर मर गया... तुम्हारा ख़्याल है कि बात यहीं ख़त्म हो गई? नहीं, ग्रागे सुनो, लड़के, ग्रागे सुनो—खेत उजाड़ नहीं पड़े रहे, बल्कि उसके भाइयों ने, उसके सालों ने फिर से जुताई की, फिर से बोग्राई की। फिर ग्रंकुर फूटे, ग्रौर फिर बालें उगीं। तो, इस किसान को कोई कितना ही सताये, लड़ाई के मोर्चे पर भेज दे, जेल में सड़ा दे, ग़रीबी से कुचल डाले ग्रौर उसका पेट ग्रफर जाये, यह भूखों मर जाये, पर ग्रानेवाले वसंत में हर बार नये ग्रंकुर फूटेंगे..."

बूढ़ा बोलते-बोलते चुप हो गया।

इस चुप्पी में उत्सुकतापूर्ण प्रतीक्षा थी।

"क्या-ग्रा?"

ग्रौर, नदी के पार से बहुत यत्न कर वापसी ग्रावाज़ ग्राई: "ग्रा-ग्रा-ग्रा! .."—कुछ बताते हुए, कुछ पूछते हुए। कंपोज़ीटर चम्मच से बरतन से दलिया निकालने लगा।

"देखो, सितारा टूट रहा है," लंबे क़दवाला ग्रादमी बोला।

बूढ़ा कहता गया: "तो, बात यह है, बेटे! घास को तुम जी भर कुचलो, पर तुम देखोगे कि वह फिर उग ग्रायेगी, ग्रौर ऊंची ही ऊंची होती चली जायेगी... ग्रब तुम ग्रपनी ही बात ले लो—ग्रभी ज़रा देर पहले हमने तुम्हें देखा था तो तुम दायें-बायें देखते हुए लड़खड़ा-लड़खड़ाकर ग्रागे बढ़ रहे थे, ग्रौर ग्रपने चारों ग्रोर दुश्मन ही दुश्मन समझ रहे थे। पर, हमने तुम्हें देखते ही समझ लिया कि तुम किस तरह के ग्रादमी हो। मैंने मित्यूख़ा से कहा: 'उसके पास मत जाग्रो। उसे हमारा ग्रादी होने दो।' ग्रौर, ग्रब यहां हमारे पास..." बूढ़ा बजरे की ग्रोर झुका—"जहां चाहो चले जाग्रो, हम तो हर गांव में सामान उतारते हैं। बस, इतना करो कि लोग ज़रा तुम्हें जान जायें, यानी घास ज़रा ग्रपनी कमर सीधी कर ले, बस... ग्रो-हो-हो-हो! .."

नदी के पीछे से ग्रावाज़ वापस ग्राई: ग्रोहो-हो-हो-ग्रो! ..

३

"पर, तुम यहां क्यों रुके पड़े हो, दादा?"

"पानी उथला है, बजरे पार जा नहीं सकते, देख रहे हो? वे जहां के तहां खड़े हैं। इस बार शुरू साल से ही नदी में जैसे पानी नहीं है। स्टीमर कुछ सामान उतारकर ही ग्रागे जा सका है। ज़रा देर में वह वापस ग्रायेगा ग्रौर इस बजरे का कुछ सामान उतारकर इसे ग्रागे ले जायेगा।"

कंपोज़ीटर ने धीरे-धीरे बरतन में से बचा-खुचा दलिया खुरचा ग्रौर खा लिया। इसके बाद हल्के-हल्के मुस्कराते हुए उसने ग्रांखें ऊपर उठाईं, ग्रौर एक नज़र चारों ग्रोर डाली। पहली बार ग्रनुभव किया कि रात

किस तरह गुमसुम सी विचारों में खोई-खोई सी है, हर तरफ़ कैसा सन्नाटा है, गहराइयों में तारे झिलमिला रहे थे, पानी नज़र नहीं आ रहा था, पर फिर भी स्वप्नमयी सी कलकल की आवाज़ आ रही थी। उसने गहरी सांस ली और बोला:

"कैसी रात है! .."

बड़ी सुहाती-सुहाती सी थकान ने उसे घेर लिया, बोली:

"ज़रा आराम कर लो, आंखें लगा लो।"

कहने लगा: "मैं ज़रा कमर सीधी कर लूं, दो रातों से पलकें नहीं झपकी हैं।"

"ज़रा रुको, अभी दही का कटोरा भी है।"

लंबा आदमी धीरे-धीरे उठा, उसकी परछाईं भी साथ नाव तक चली, अंदर पैठा, इधर-उधर देखा और हाथ में कटोरा लिए लौटा। बैठ गया। परछाईं भी अपनी जगह वापस आ गई।

"लो, खाओ। अच्छा है।"

आसपास की ख़ामोशी में मिलने से कलकल करते पानी की आवाज़ खो गई थी। पर, अचानक अनचाही, बिन-बुलाई एक आवाज़ सहसा ही दूर से आई और मौन भंग हुआ। आवाज़ जब पहले कानों में पड़ी तो कुछ टूटी-फूटी सी, अनिश्चित सी लगी। कुछ समझ में आई और कुछ समझ में न आई। पर, ज़रा देर बाद स्पष्ट हुई। रात के वातावरण में कुछ नया सा मिल गया।

तीनों आदमी चट्टानों की ओर मुड़े और आहट लेने लगे।

आग की परछाईं टिमटिमाती और लहरें लेती रही और लपटों की लाल-लाल आंखें बेचैनी से क्षणभर के लिए अंधेरे में उभरी। परछाइयां सहमी सी रेत पर इधर-उधर पड़ रही थीं और जैसे कुछ खोज रही थीं—पर पा नहीं रही थीं और एक-दूसरे को देखती चट्टान पार स्तेपी तक फैल गईं। स्तेपी से टपाटप टापों की आवाज़ बराबर पास ही पास आती जा रही थी।

और पास, और पास... लोगों को लगा कि वहां ऊंचे पर जो ज़मीन है वह ख़ुश्क, सख़्त और सहज ही गूंजनेवाली है।

इस बीच आग की ताक़त ने जवाब दे दिया और आसपास होते हुए का अनुमान लगाती-लगाती ठंडी पड़ने लगी। जल्दी ही उसे नींद आने

लगी तो उसने उजली राख का कंबल अपने ऊपर डाल लिया। परछाइयां निराश होकर इधर-उधर फैल गईं, और तब तक फैलती गईं जब तक कि आसपास के अंधकार में समा नहीं गईं। परंतु, इस पर भी आख़िर तक उनका रुख़ चट्टान की ओर रहा।

टापों की टपाटप बंद हो गई। चट्टान का जो हिस्सा सितारों की पहुंच के बिलकुल बाहर था सामने आया, और एक राक्षस की विकृत आकृति वहां से उभरी, चुपचाप ऊपर उठती गयी और पर्वत से टूटी चट्टान सी इस बड़ी और टेढ़ी-मेढ़ी आकृति ने झिलमिलाते तारों को अपने पीछे छिपा लिया।

कुछ पलों तक ऐसा सन्नाटा छा गया कि उसने रात की सारी आवाज़ें सोख लीं।

"हे, कौन है नीचे वहां?" भर्राई हुई कर्कश आवाज़ चोटी से दूर तक गूंज गई, और नदी का दूसरा किनारा न चाहने पर भी उसे दोहराने लगा।

"कोई भी हो, तुमसे मतलब?" चम्मच से दही उठाते हुए लंबे क़द के आदमी ने लापरवाही से कहा।

"कौन हो तुम? तुम..." ऐसी गाली-गलौज की गंद शुरू हुई कि जिससे रात्रि की ख़ामोशी भी अछूती न रही।

लंबा आदमी अटपटाकर उठ खड़ा हुआ—बिलकुल भालू की तरह! बोला:

"क्या चाहते हो तुम? निकल जाओ यहां से! .. तुम जो तलाश करते हो, वह हमारे पास नहीं है।"

आग ने अधखुली, लाल पलकों के नीचे से ज़रा सावधानी से झांककर देखा। एक पल के लिए जो लौ लहकी तो चट्टान के ऊपर घोड़े का सिर दिखाई पड़ा और उस पर सवार का सिर भी, बराबर में दूसरे घोड़े का सिर चमका और फिर उस पर सवार। ठीक इसी समय आग की एक बड़ी लहर सी उमड़ी, और उसके बाद जो गोली की धांय हुई तो वातावरण गूंज उठा, और हवा की लहरियों ने गूंज ग़ुस्से से नदी और जंगल के आरपार पहुंचा दी। रात की ख़ामोशी भंग हुई। कुछ देर तक हर ओर गूंजकर आवाज़ बंद हो गई।

सब कुछ देखते-देखते हवा हो गया—शांत रात, अंधेरी नदी, नदी

के अंदर के टिमटिमाते सितारे, सोये से धीमे-धीमे स्वर, चट्टान, स्तेपी, स्तेपी से आती हुई बटेरों की गुटुर-गूं, ताज़े कटे खेत से उठती हुई भीनी-भीनी महक। और, इन सारी चीज़ों का स्थान ले लिया किसी कड़ी चीज़ ने, जो अपने आप में इतनी बेमतलब थी कि बेरहम मालूम होती थी।

"कज़्ज़ाक!" कंपोज़ीटर खड़े होते हुए फुसफुसाया। "अलविदा, मैं भागा..."

बूढ़े ने उसका हाथ थामते हुए रोका:

"ज़रा रुको... जल्दी क्या है..."

"हमें डराने की कोशिश न करो, हम इतनी आसानी से डरनेवाले नहीं हैं। इस तरह जंगल से तीन-चार वेर्स्ता दूर किसी निर्दोष को चोट लग सकती है। गोली तो कितनी दूर तक मार करती है... बदज़ात!" लंबे ने ग़ुस्से में ज़ोर से घूंसा हिलाते हुए कहा।

उजली राख ने आग ढंक ली। काली चट्टान के ऊपर काली आकृतियां हिलीं, छोटी हुईं और चट्टान के पार ओझल हो गईं।

सितारों का खेलवाड़ अबाध चलता रहा। स्तेपी से आती घोड़ों की टापों की आवाज़ें पीछे हटती गईं और अंत में दूर जाकर खो गईं और अपने पीछे सुनसान अंधेरे में भयानक आशंका और भ्रांति की अस्पष्ट अनुभूति को छोड़ गईं। पानी की उतावली भरी, भागती कलकल ने सन्नाटे और अंधेरे को नींद और सर्वव्यापी विस्मृति से भरने की निरर्थक कोशिश की, लेकिन घोड़ों की टापों की दूरी में खोती आवाज़ से उत्पन्न हुई अनिष्ट की आशंका से परिपूर्ण ख़ामोशी रात की ख़ुमारी भरी नीरवता से अधिक प्रभावशाली थी।

वे फिर बैठ गये।

"आराम से खाने भी नहीं देते, सूअर कहीं के!"

"बड़े नाकारा लोग हैं! जितनी ज़मीन चाहिए उतनी पास में है, ज़रूरत से ज़्यादा, फिर भी औरों को चैन नहीं लेने देते।"

वैसे तो सन्नाटा रहा, पर रात पहले जैसी नहीं रही, जिस शांति और सपनोंवाली नींद ने लगभग सभी पर अपना जादू डाला था, उसे जैसे कोई कहीं उड़ा ले गया। रह गया केवल अंधेरा, रह गई कोई अनिश्चित सी प्रत्याशा और एक अजीब सी बेचैनी। अचानक ही कोई धातु की चीज़ खड़खड़ाई तो जैसे आशंका की पुष्टि हो गई। एक

मिनट बाद वही आवाज़ फिर सुनाई पड़ी। उन्होंने फिर मुड़कर देखा, पर इस बार निगाहें चौकन्नी होकर नदी के निचले किनारे का अंधकार भेदने लगीं।

फिर वैसी ही खड़खड़ाहट हुई और उसके साथ जल्दी-जल्दी एक ही गति से नाप-नापकर चलने के कारण किनारे की बालू के दबने की आवाज़ आई। अचानक ही चट्टान के नीचे नदी के किनारे अंधेरे में अंधेरे से भी काली चीज़ सामने आई। और पास आई, फिर और पास आई... घोड़ों के हिलते सिर और उन सवारों की काली आकृतियां स्पष्ट हुईं।

घोड़ों के ज़ीनों पर जमकर बैठे और राइफ़लों की चमचमाती हुई नलियां कंधों पर साधे, वे लगामें झटकते हुए सीधे आग के पास तक आ पहुंचे। घोड़े अपने सिर नीचे-ऊपर झुलाते हुए नथुने फड़फड़ाने लगे।

"कौन हो तुम?"

"इससे तुम्हें क्या मतलब?"

तीनों खड़े हो गये। फिर चुनी-चुनी गालियां शुरू हो गईं।

"हमारी तलवारों का पानी देखना चाहते हो? चाहो तो देख सकते हो। हम तुम्हारे टुकड़े करके रख देंगे! .. कौन हो तुम, मैं पूछता हूं?"

"तुम्हारी क्या आंखें नहीं हैं, अंधे हो? हम बजरे के चौकीदार हैं।"

"रियाबोव, बांध लो इन्हें और कमांडर के पास ले चलो।"

भूरे चेहरे और उभरे हुए जबड़ोंवाला एक जवान कज़्ज़ाक घोड़े से नीचे कूदा और लगाम पकड़े-पकड़े उनकी ओर बढ़ा। चलते हुए उसका फ़ौजी साज़ खड़-खड़ कर रहा था।

"हम जानते हैं, तुम कैसे चौकीदार हो। इधर मुड़ो।"

"और तुम, तुम लंबू बदज़ात, सारे रास्ते तुम पर चाबुक पड़ेंगे पीठ पर, तब तुम्हें जवाब देना सिखाऊंगा!"

"हमें बांधकर घसीट ले चलना आसान है," बूढ़े ने शांत भाव से कहा, "यह तो तुम्हारी ज़िंदगी का पेशा है। पर, बाद में कहीं परेशानी न हो तुम्हें। बजरे में ऊपर तक सामान लदा हुआ है। तुम हमें ले जाओगे तो सुबह तक माल साफ़ हो जायेगा और स्टीमर आयेगा तो बजरा मेरी जेबों की तरह ख़ाली मिलेगा... मेरा ख़याल है कि लोग

कहेंगे—यह सारी कारस्तानी कज़्ज़ाकों की है, इसीलिए तो उन्होंने चौकीदारों को खदेड़ भगाया, इस फ़न में तो बड़े ही माहिर हैं वे!"

"चुप बे बुड्ढे के बच्चे, बंद कर अपनी यह झूठी बकवास!" पर, दाढ़ीवाले कज़्ज़ाक की आवाज़ अब कुछ अनिश्चित थी। "ज़रा एक मिनट रुकना, रियाबोव... तेरा पासपोर्ट कहां है, आवारा?"

"कल के छोकरे हो क्या?" लंबा आदमी हंसा। "पासपोर्ट तो आम तौर से मालिक के पास रहते हैं। जाओ, कप्तान से मांगो, वह दिखलायेगा तुम्हें पासपोर्ट।"

कज़्ज़ाक कुछ तय न कर पाया। उसने लगाम को खींचा।

"और, वह कौन है?"

"वह भी चौकीदार है! बजरे का पानी उलीचता है वह।"

"तेरा झूठ नहीं चलेगा, कुतिया की औलाद! तू समझता है कि मैं यह नहीं भांप सकता कि यह शहर से भागकर आया है। आ-हा! ठीक! इसी की तो हमें तलाश है... ज़रा सब तरफ़ एक निगाह तो डाल लो, रियाबोव, हो सकता है कुछ और भागे हुए लोग इधर-उधर छिपे हों। आग के इर्द-गिर्द देखो ज़रा, पैरों के निशान उधर उस तरफ़ तो नहीं?"

जवान कज़्ज़ाक ने एक टहनी ली, आग में डालकर जलाई और झुक-झुककर कुछ क़दमों तक बालू पर बहुत ग़ौर से इधर-उधर निगाह दौड़ाई। परछाइयां सिकुड़ती-सिमटती कांपती रहीं।

"नहीं। पैरों के निशान तो उस तरफ़ से आते दिखायी पड़ते हैं, सीधे शहर की तरफ़ से आते हैं।"

"अरे लोफ़रो, हमसे बेपर की उड़ाते हो? बाग़ियों को इधर-उधर छिपाते फिरते हो, क्यों? ठीक है, तो भुगतो नतीजा! उस आदमी को बांध लो, रियाबोव।"

"हमारे पास रस्सी नहीं है।"

"तो, गले में पट्टा डाल दो और घसीट ले चलो इसे कुत्ते की तरह।"

जवान कज़्ज़ाक ने घोड़े की लगाम से लटकते पट्टे का छूटा हुआ सिरा थामा, और कंपोज़ीटर की ओर बढ़ा।

"पीछे घूम, लोफ़र।"

कंपोज़ीटर ने उसे धक्का दे दिया और ख़ुद पीछे हट गया। "जाओ जहन्नुम में!"

राइफ़ल का बोल्ट खटका। कंपोज़ीटर ने आंखें ऊपर उठाईं तो दाढ़ीवाले कज़्ज़ाक की राइफ़ल की नली को अपनी ओर घूरता पाया।

"अब तुमने क़दम बढ़ाया कि मैंने गोली दाग़ी!"

रियाबोव ने कंपोज़ीटर के गले में पट्टा डाला और कसने लगा। दाढ़ीवाले कज़्ज़ाक ने राइफ़ल पीठ पर लटका ली। कंपोज़ीटर ने नदी पर घिरे अंधकार को थकान से भरी, अनमनी निगाहों से देखा। रात काली थी। उसकी सियाही दम घोंटी रही थी और हर ओर से वहां के सभी लोगों पर छाई हुई थी। सांस तक के लिए हवा मिलना कठिन हो रहा था।

बूढ़े और लंबे दोनों आदमियों ने एक-दूसरे की ओर अर्थभरी दृष्टि से देखा और फिर सारे दृश्य को शांत भाव से देखते रहे।

"अच्छी तरह बांध लिया? .. ठीक, अब घोड़े पर सवार हो जाओ, और इसे आगे-आगे चाबुक से हांकते चलो।"

जवान कज़्ज़ाक ने एक पैर रक़ाब पर रखा और सवार होने के लिए काठी के मुड़े हुए हिस्से को पकड़ा तो घोड़े के सिर और आदमी की गर्दन में बंधा काला पट्टा चमका।

जवान घोड़े पर सवार होने के लिए उछला ही था कि बूढ़ा उसके पास गया और कान के पास मुंह ले जाकर कुछ फुसफुसाने लगा। घुड़सवार नीचे आ गिरा, और बूढ़े के कंधे के पीछे मुंह छिपाकर उखड़ी सी आवाज़ में चिल्लाकर कुछ बोला।

ठीक इसी समय लंबा आदमी घोड़े पर सवार दाढ़ीवाले कज़्ज़ाक के पास पहुंचा और उसकी ओर हाथ बढ़ाते हुए बोला:

"यह चीज़ आपकी तो नहीं है, हुज़ूर? खो गई है न?"

कज़्ज़ाक उस आदमी की ओर मुड़ा, पर इसी क्षण उसे ऐसा लगा जैसे कि किसी सांप ने उसकी गर्दन के चारों ओर कुंडली मारकर उसे बुरी तरह जकड़ लिया हो। उसने ख़तरे से बाहर हो जाने के लिए घोड़े को तुरंत एड़ लगाई, पर इसी बीच एक दूसरा मोटा सांप उसकी कमर के चारों ओर कस गया। यही नहीं, एक बड़े से हाथ ने उसकी पीठ के पीछे से आकर लगाम पकड़ ली और उसे इतनी ज़ोर से झटका कि घोड़े की

गरदन पीछे की ओर मुड़ गई, वह कूल्हों के बल बैठ गया, पीछे ही पीछे सरकता गया, और रुका तब, जब उसके पुट्ठे चट्टान से टकराकर छिल गये।

"ओ-ओ-हो-हो!.. दोगले कहीं के!.. रिया-या-बोव... म-द-द!.."

"ठीक है, दोस्त!.."

"ठहरो ज़रा... मेरे हाथ में तलवार आ जाने दो—फिर देखूंगा!.."

"ठीक है... ठीक है!.."

वे बड़ी मुश्किल से, रुक-रुककर और भर्राते गलों से एक-दूसरे के चेहरे पर गर्म सांसें छोड़ रहे थे। घोड़ा दो आदमियों के बोझ से दबकर परेशान हो उठा। चट्टान की तरफ़ से कीचड़ और मिट्टी के कड़े ढेले उन पर बरस रहे थे।

"रि-या-या-बोव!.."

कज़्ज़ाक ने पूरी ताक़त से हाथ छुड़ाकर तलवार की मूठ टटोलने की कोशिश की, लेकिन जिस शैतान ने उसे अपने पंजों में जकड़ रखा था, उसने उसे अमानवीय शक्ति से पीछे की ओर झुका दिया। इसके बाद दाढ़ीवाले कज़्ज़ाक ने चोटी-एड़ी का पसीना एक कर दिया कि उसे काठी से नीचे न गिराया जा सके, पर दूसरे आदमी ने उसे काठी के बाहर खींच ही लिया। नतीजा यह हुआ कि हल्की-हल्की चमकती रकाबों में फंसे फैले हुए पैर ऊपर हो गये और पसीने से भीगा हुआ सिर संघर्षरत घोड़े के पेट के नीचे आ गया।

कोई चीज़ चटखी और पिछले पैरों पर खड़े होते घोड़े के नीचे गिरते हुए शरीरों के आघात से धरती कराह उठी।

इंतज़ार करती सी रात भयानक और निर्विकार थी। उसकी गहरी ख़ामोशी में सिर्फ़ सुनाई पड़ती भर्राई हुई सांसें, और दबी-घुटी आहें-कराहें। क़समें और गाली-गलौज तो बड़े ग़ुस्से में भींचे गये होठों में घुटकर रह जातीं।

अपने को आज़ाद अनुभव करके घोड़ा डर से सिर झुकाये उस जगह से भागा, जहां भारी काला पुलिंदा धरती पर लुढ़क रहा था। उसके पैर लगातार बालू पर घिसटती लगाम के झूलते हुए हिस्से में फंस रहे थे।

बेबस होकर बालू पर पड़े जवान कज़्ज़ाक को आज़ाद कंपोज़ीटर और बूढ़े ने मिलकर कसकर बांध दिया।

"गले का पट्टा इधर दो! .." हांफते हुए कज़्ज़ाक के सीने पर घुटना टिकाये-टिकाये लंबा आदमी गुर्राया।

बाक़ी दोनों ने घोड़ा पकड़ लिया और बालू पर पड़े उसके मालिक की ओर लपके। जैसे-जैसे पट्टे का चमड़ा कज़्ज़ाक की कलाइयों के मांस में कसता गया, वैसे-वैसे उसके जोड़ चटखने लगे।

"उफ़, यह तो कहो कि मैंने शैतान को जैसे-तैसे घोड़े से नीचे खींच लिया, नहीं तो ज़रा भी वक़्त मिल जाता तो घोड़ा उसे लेकर हवा हो जाता... आओ, दही तो खाकर ख़त्म करें। ये लोग खाना तक नहीं खाने देते। इन सूअरों ने बहुत परेशान कर रखा है।"

४

वे ख़ुश-ख़ुश घेरा बनाकर बैठ गये और जल्दी-जल्दी सांस लेते हुए अपने चेहरों का पसीना पोंछने लगे। खाना फिर चलने लगा।

"दादा ने जब उस जवान कज़्ज़ाक को बालू पर गिराया, तो उसने मुंह से उफ़ तक न की।"

"और, वह मोटा सुअर भी बड़ा ताक़तवर निकला।"

"ज़रा देखो उसे, और, वह तुम्हारी गरदन पकड़ना चाहता था... है न? बेवकूफ़!"

उन लोगों ने आग में कुछ टहनियां झोंकीं। आग इस बीच सो सी गई थी, पर नये सिरे से आंखें खोल झांकने लगी और परछाइयां फिर बालू पर इधर-उधर भटकने लगीं। जकड़े बंधे कज़्ज़ाक पत्थर से ज़मीन पर पड़े थे और उनके ऊपर सिर झुकाये जड़ बने खड़े रहे उनके घोड़े।

लंबे आदमी ने अपना चम्मच एक किनारे रख दिया, और मुड़कर उसने उंगली से नथुने दबाते हुए नाक सिनकी। बोला: "पिछले साल हम सब यहां उथले में खड़े थे कि तूफ़ान आ गया, और क्या तूफ़ान आया! एक नीला सा गेंद मेरे बग़ल से सर्राता हुआ निकला तो मैं कोई छः गज़ दूर तक उसके कारण उड़ता चला गया। उस गेंद का यह हुआ कि

वह किनारे से कोई सौ गज़ दूर के एक पेड़ से जा टकराया—पेड़ ठूंठ होकर रह गया। सच है, मैं तुमसे सच कह रहा हूं!

"पिछली गरमी में भी तूफ़ान आये थे, शहर में दो घरों में आग लग गई थी।"

दढ़ियल कज़्ज़ाक इस सारी अप्रत्याशित स्थिति से बड़े विस्मय में था। पर, इस बीच वह उस मनःस्थिति से उभरा और अपनी उस बेतुकी हालत में पड़े-पड़े अधिक से अधिक देख पाने के लिए तिरछी-आड़ी आंखों से चारों ओर अविश्वास से देखने लगा। ठीक, गले के पट्टे से जकड़ा वह वहां पड़ा था, घोड़ा उसके पास खड़ा था, वे तीनों चम्मचों पर सफ़ेद दीखते दही को चुपचाप आराम से खा रहे थे, और रियाबोव उसके पीछे था, अतएव वह उसे दिखाई न दिया।

"शराबी, बदमाशो, आख़िर तुम सोचते क्या हो? तुम्हें क्या अपने सिर प्यारे नहीं हैं? तुम अपने को बहुत होशियार समझते हो?"

"हमें अपने सिर प्यारे हैं और ख़ूब प्यारे हैं!" लंबा आदमी हंसा। "तभी तो हमने तुम्हें जकड़कर डाल दिया है।"

"तुम सोचते हो कि हम सिर्फ़ दो कज़्ज़ाक हैं, क्यों? जानते हो, हमारी गिनती पूरी सौ है, वे बराबर तैयार रहते हैं, और गश्त के लिए लोग हर तरफ़ भेजे जाते हैं... अगर उनमें से एक भी आदमी इधर आ निकला तो नज़र पड़ते ही तुम्हें गोली मार देगा... खोलो मुझे फ़ौरन!"

"यहां कोई कज़्ज़ाक होगा ही नहीं, तो वे हमें गोली से क्यों मारेंगे?"

"बेकार बकवास मत करो। हमें फ़ौरन खोलो! सुना तुमने!.."

"यहां कोई कज़्ज़ाक होगा ही नहीं तो वे हमें क्यों गोली से मारेंगे?" लंबा आदमी भोलेपन से कहता रहा। "थोड़ा सब्र से काम लो। हम खाना ख़त्म कर लें। इसके बाद हम तुम्हारे घोड़ों पर से ज़ीन उतार लें, फिर तुम्हारे पायजामों और कमीज़ों में बालू भरेंगे और तुम दोनों को नदी में फेंक देंगे।"

इसके बाद मौत का सा सन्नाटा छा गया। कज़्ज़ाक की आंखें बड़ी-बड़ी हो गईं और अंधकार में भी उनकी सफ़ेदी साफ़ नज़र आने लगी। वह जल्दी-जल्दी सांस लेने लगा, पर सांस जैसे गले में फंसने लगी। इस पर भी अपने को संभालते हुए वह धीमी आवाज़ में बोला:

"तुम मुझे डराने की कोशिश न करो। मैं इतनी आसानी से डर जानेवाला नहीं हूं... कज़्ज़ाक कोई सुई तो नहीं कि खो जाये तो पता न चले, उसका तो पता चल ही जाता है। तुम घोड़ों को डुबो नहीं सकते, यह घोड़े तुम्हारा भेद खोल देंगे।"

लंबा आदमी बड़े मज़े से हंसा और उसकी हंसी उसी मज़े से नदी के पार तक गूंज गई।

"मुंह तब खोलो जब मुंह खोलने से कोई काम बने। तुम हमारी फ़िक्र न करो, कज़्ज़ाको। हम घोड़ों के ज़ीन उतारकर सब बात पक्की करने के लिए उन्हें तुम्हारे गले में लटका देंगे। वे काफ़ी भारी हैं, इसलिए तुम्हें लेकर डूब जायेंगी। घोड़ों को हम स्तेपी में ले जायेंगे, लगामें उतारकर उन्हें छोड़ देंगे। इसके बाद आज़ादी से इधर-उधर दौड़ने में उन्हें बड़ा मज़ा आयेगा। जल्दी ही उन्हें कोई मालिक मिल ही जायेगा। किसी न किसी फ़ार्म पर तो वह जा ही निकलेगा। खोये हुए घोड़े को कोई भी बड़ी ख़ुशी से पकड़ लेगा और आराम से फ़ार्म का काम लेगा। अगर यूं न हुआ तो घोड़ों के चोर तो हमेशा ही स्तेपी में घूमते फिरते हैं। कोई घोड़ा इतनी आसानी से उनके हाथ आ जाये तो क्या कहने हैं, उन्हें बड़ी ख़ुशी होगी। यही बात है!"

मौन छा गया। कज़्ज़ाकों के सिरों के ऊपर घिरी रात काली और गहन हो गई, जैसे कि रहम और दया जानती ही न हो। वातावरण से मौत का संकेत मिलने लगा और गुमसुम अंधकार जैसे स्थिर होकर भयभीत करने लगा। सहसा ही रह-रहकर उठती-गिरती हुआने की कर्कश आवाज़ आने लगी, जैसे कि कोई भेड़िया आसमान की ओर थूथनी उठाये हुआं-हुआं कर रहा हो। दढ़ियल कज़्ज़ाक ने सांस सुढ़कते हुए कनखियों से तीनों को चम्मचों से दही खाते देखा। वे आराम से खा रहे थे। उनके सिरों पर मौत नहीं नाच रही थी और उनकी वह ख़ामोशी भयानक लग रही थी।

रात्रि के मौन को तोड़ती और शांति को भंग करती बीच-बीच में आती भेड़िये के हुआने की आवाज़ें नदी के पार मानो भय से ख़त्म हो गईं और स्तेपी के निश्चल विस्तार के अंधकार में कड़वी, सिसकियों जैसी गुर्राहटों की तरह अंधकार में विलीन हो गईं।

"अपने से ज़बरदस्त से पाला पड़ जाये तब एक नहीं चलती, हां,

भोले-भाले, बेबस, मजबूर लोगों को तुम ज़रूर मार सकते हो, उन्हें तुम ग्रासानी से लंगड़ा-लूला बना सकते हो। तुमने उसकी गरदन जकड़ दी थी, जैसे कि वह कोई कुत्ता हो। हाथ नहीं बांधे, कमर नहीं कसी, गरदन जकड़ी, है न! .."

दढ़ियल कज़्ज़ाक ने दांत पीसे, और दांत भींचे ही भींचे बुदबुदाया:

"बकवास बंद करो, बदज़ात!"

लेकिन, उसकी पीठ पीछे भेड़िया अब भी हुआता रहा। वह नदी के किनारे चला गया और फिर स्तेपी में। वातावरण में एक तनाव सा आ गया। कज़्ज़ाक उन लोगों को आराम से खाना खाते देखता रहा, उसके मन में कसक हो रही थी और वह चाह रहा था कि दही कभी ख़त्म होने को न आये। पर, चम्मच कटोरे के तले में गहरे और गहरे पहुंच रहे थे!

"सुनो, यारो" वह धीमे से बोला, "हमें छोड़ दो..."

"देखो," बूढ़ा ज़रा मुलामियत से बोला, "तुमने एक बार नहीं सोचा और तुम हमें मारने-काटने चले आये। पर अब? इस समय तुम ख़ुद इस तरह पड़े इंतज़ार की घड़ियां गिन रहे हो।"

होंठों से चम्मच चाटते और अपनी मूंछों को पोंछते हुए बूढ़ा कहता गया: "हां-आं, वक़्त आयेगा जब अचानक ही लोग उठ खड़े होंगे और तुम पड़े-पड़े इंतज़ार की घड़ियां गिनते रहोगे। तुम्हें अचरज होगा, तुम कुछ समझ न पाओगे। दिल-दिल में तो तुम दुखी होगे, सोचोगे: ओह, अगर वक़्त लौट आये, तो दूसरे ही ढंग से जियें।"

"हम तो सिर्फ़ अपने कर्तव्य का पालन कर रहे हैं, अपने मन से तो हम कुछ करते नहीं... मेरे पास भी फ़ार्म है, मेरा भी परिवार है, मैं भी घर लौटना चाहता हूं, स्तेपी में इधर-उधर मारे-मारे फिरते रहने में सुख नहीं है..."

"कर्तव्य! .. अगर तुम्हारा कर्तव्य देवताओं की मूर्तियों को चूर-चूर करना हो जाये तो शायद वह काम करने में भी तुम्हें कोई ख़ास हिचक न होगी, है न?"

"ज़रूर नहीं होगी, क्योंकि हमने ज़ार और मुल्क की सेवा करने की क़सम खाई है..." कज़्ज़ाक बोला और सोचने लगा। समय जैसे किसी चीज़ के इंतज़ार में उस वीरान, अंधेरे किनारे पर पंख लगाकर उड़ा जा रहा था। चम्मच कटोरे की पेंदी तक पहुंच चुके थे।

"क़सम! .." बुड्ढे के स्वर में कड़वाहट थी। "मैं तुम्हें बतलाता हूं, क़सम खानी हो तो पवित्र, जगमगाते चांद-तारों की क़सम खाओ, अंधेरे जंगलों की क़सम खाओ, निर्मल पानी की क़सम खाओ, जंगल के जानवरों की क़सम खाओ, हवा में उड़नेवाले पक्षियों की क़सम खाओ और इन्सान के नाम की क़सम खाओ, क्योंकि इसका संबंध आदमी की ज़िंदगी से है। यह क्या कि किसी पादरी ने कुछ अंट-शंट पढ़वा दिया और तुमने पढ़ लिया! वह भी कोई क़सम हुई! क़सम तो हुई वह जो खाते हैं बड़े-बड़े शहीद, जो खाते हैं ऐसे तमाम लोग जिनकी आत्मा पीड़ित नहीं है... पर, तुम, तुम्हारी आत्मा विंधी पड़ी है और अंधे पिल्लों की तरह तुम अपनी टांग हर चाही-अनचाही जगह अड़ाते फिरते हो... ज़िंदगी, तुम्हारे चारों ओर ज़िंदगी है, हर तरफ़ ज़िंदगी है," वह हाथ से एक बड़े फैलाव की ओर संकेत करते हुए बोला, "तुम्हें तो ज़िंदगी से क़सम लेनी चाहिए, पादरी से नहीं। पर, इस ज़िंदगी की तुम्हारी निगाह में क्या क़ीमत! तुम तो उसे घोड़ों की टापों के नीचे रौंद देते हो, तलवारों से टुकड़े-टुकड़े कर डालते हो, भालों से आर-पार छेद देते हो और गोलियों से चलनी बना डालते हो... देखो न, तुम तो अपनी राइफ़ल का घोड़ा दबा देते हो, बिना सोचे-समझे कि किसके कहां लगेगी! .."

चारों ओर अंधेरा और निस्तब्धता थी। पानी की लहरियों की मंद मरमर सुनाई नहीं देती थी; उस पार के उदास जंगल ने इस संगीत की ओर से अपना ध्यान हटा लिया था; दो पग आगे का भी नदी का किनारा नहीं दिख रहा था। पर, आग की रोशनी में तीनों आदमियों के चेहरे ज़रूर लाल तांबे की तरह दमकते रहे। बस और कुछ नहीं।

कज़्ज़ाक उन पर से अपनी आंखें नहीं हटा पा रहा था। वह उनकी ओर जितना ज़्यादा देखता, उनकी ताक़त उतनी ही ज़्यादा लगती थी। वे वहां इस तरह बैठे थे, मानो पीतल से ढले, रात्रि और अंधकार के कोई अज्ञात दैत्य हों।

"ओ-हो-हो! – यह है ज़िंदगी!" चम्मच एक ओर को रखते हुए और अपने मुंह के अंदर चले गये गलमुच्छों के बाल बाहर निकालते हुए बूढ़ा कहता गया। इसके बाद वह फिर चम्मच उठाकर दही भरकर अपने मुंह में डालने लगा। कज़्ज़ाक ने चम्मच से सफ़ेद चीज़ का यह आना-

जाना देखा। बूढ़ा बोला: "यह सब ऐसे ही होता है... मिसाल के तौर पर, मान लो तुम अपने फ़ार्म पर काम करते हो। दिन में काम करते हो, रात में काम करते हो, हल से ज़मीन जोतते हो... जब तक हरे अंकुर न निकल आयें, तुम बड़े चिंतित रहते हो—आसमान पर आंखें गड़ाये, पानी के लिए प्रार्थना करते रहते हो। अब अंकुर निकल आते हैं, फिर डंठल बनता है, इसके बाद डंठलों में बालें आती हैं, बालों में दाना पड़ता है, तुम व्यग्रता से इधर-उधर गेहूं के आस-पास, घास के आस-पास दौड़ते फिरते हो जैसे उन्हें कुछ हो न जाये।"

"कोई तारा टूटा," लंबे आदमी ने डकार लेते हुए कहा।

कज़्ज़ाक ने मुड़कर तारों की भीड़ से भरी नदी की ओर देखा और उनींदे पानी की कलकल सुनी। पर, कज़्ज़ाक को अपने अतीत की स्मृति की तरह सब कुछ दूर छिपता, हटता लगा। कभी उसके पास फ़ार्म था, उसका परिवार था, हर दिन का काम था, और यह काम उसके व्यक्तित्व का एक हिस्सा बन गया था, पर, वह सब कभी था, किसी विगत अतीत में था, इस समय तो वह सब कुछ भी नहीं था; इस समय तो सामने था केवल अंधेरा, और अंधेरे में आग की रोशनी में चमकते तांबे के रंग की तीन मानव आकृतियां।

घोड़ा जहां का तहां खड़ा रहा। उसके कान पीछे की ओर मुड़े थे और उसका सिर उदासी से नीचे की ओर लटका था। किसी न दिखाई देनेवाले रात्रि-पक्षी का तीखा स्वर नदी पार तक जा पहुंचा।

बूढ़े ने बोलना बंद किया और सफ़ेद तनी हुई भौंहों के नीचे से नदी पार धुंधले से जंगल की ओर निगाह दौड़ाई।

"घास उगती है और उसकी भी फ़िक्र करते हैं, धरती से पतली सी डाली निकलती है, तो उससे बचकर निकलते हैं कि कहीं टूट न जाये... लेकिन, आदमी—आदमी कुछ भी नहीं है, वह तो गेहूं से भी सस्ता है... ज़रा सोचो, वह भी जीवित प्राणी है और आसमान के सितारे, आसमान के जो तारे हैं वे सब ही के लिए एक ही तरह से जगमगाते हैं, और, एक तुम हो कि आते हो लोगों को सताने, उनकी जानें लेने और उन्हें जेलों में ठूंसने। शपथ, क़सम!!. आदमी की ज़िंदगी से बड़ी कोई क़सम नहीं होती, और, वह क़सम सारी क़समों से प्यारी होती है, बेटा! तुम यहां आये थे तो तुम्हें अपनी ताक़त

का बड़ा गुमान था, पर, देखते हो, तुम यहां पड़े इंतज़ार कर रहे हो।"

कज़्ज़ाक ने अपने होंठ चाटे और अपने को छुड़ाने का अत्यधिक प्रयत्न किया, लेकिन कच्चे चमड़े के पट्टे ने खाल को और गहरा काट दिया।

"सुनो, यारो!" अपनी बेबसी को स्वीकार करते हुए वह बोला। "भाइयो, मैं भी तो..."

लोग खाना खाते रहे और उनके मुंह चलते रहे। इस बीच आग की रोशनी में उनके चेहरे से ऐसी दृढ़ता और निश्चय टपक रहा था कि कज़्ज़ाक ने उधर से अपनी आंखें फेर लीं।

उस दिन की एक-एक घटना क्रम से उसके दिमाग़ में आई। आश्चर्यजनक स्पष्टता से घटनाओं का वह प्राणघातक क्रम उसे दिख रहा था—क्रम जो उसे सर्वनाश और निरर्थक मृत्यु तक ले आया था। उसने उदासी से आहट लेने की कोशिश की। उसके पीछे तो जवान ज़रूर चीख़-चीख़कर रोता रहा, पर स्तेपी में ऐसा सन्नाटा था कि कहीं कोई आवाज़ नहीं। और, आख़िर वहां आ भी कौन सकता था? छुटकारे की या क्षमा की कोई आशा न थी, और हो भी नहीं सकती थी, क्योंकि उसने ख़ुद भी तो किसी तरह की कोई दया नहीं दिखलाई थी।

यह सन्नाटा मौत से ज़्यादा भयानक लग रहा था। कज़्ज़ाक आहट लेता रहा, लेता रहा, पर वातावरण में बड़ा दर्दनाक तनाव था। इसी समय अचानक ही अनगिनत टिड्डों की भनभन सुनाई पड़ी। यह टिड्डे और उनकी यह भनभन स्तेपी के लिए कोई नई चीज़ न थी, पर आज तो जैसे वे अंतिम विदा दे रहे थे।

रियाबोव के साथ लोगों ने कुछ करना शुरू कर दिया था, क्योंकि आर्त्त और विकल चीख़ें बढ़ती गईं। पर, सहसा ही बंद हो गईं।

दढ़ियल कज़्ज़ाक की धड़कन एक बार के लिए रुक गई। लंबा आदमी झुका और उसके हाथ के पट्टे को कुछ करने लगा। पट्टा ढीला हो गया और हाथ से नीचे गिर पड़ा। कज़्ज़ाक उछलकर झट से खड़ा हो गया। इसी समय रियाबोव लंगड़ाता और अपने सैनिक साज़-समान झनकाता सवार होने की कोशिश कर रहा था। आख़िर वह उछलकर घोड़े

की पीठ पर बैठ गया और घोड़ा एक उछाल में ही उसे लेकर सरपट दौड़ता अंधेरे में खो गया।

"अरे-अरे-अरे!..." लंबा आदमी हंसा। "यह तो सिर पर पांव रखकर भाग खड़ा हुआ। अच्छा, चाचा, अब तुम भी भागो यहां से!"

जीवन वापस पाने की प्रसन्नता के भाव वश में करने की कोशिश करते हुए, ऊपर से शांत वह कज़्ज़ाक अपने घोड़े के पास गया, उसने पेटी को देखा-भाला, इसके बाद घोड़े पर सवार हुआ और लगामें संभाल लीं।

"अलविदा, यारो!"

"अलविदा, साहबज़ादे!"

घोड़ा गीली बालू खुरों से रौंदता, हलके-हलके क़दम रखता आगे बढ़ा। पर, होते-होते अंधकार में खो गया।

पानी की धाराओं का नींद में डूबा मर्मर पहले की तरह चल रहा था, और रात के आसमान के अनगिनत तारे काले पानी की गहराइयों में प्रतिबिंबित हो रहे थे।

"अब चाहो तो एक नींद सो लो।"

"और, बरतन भी तो धोना है।"

पानी पर झुकते हुए लंबा आदमी बरतन का भीतरी हिस्सा बालू से रगड़-रगड़कर साफ़ करने लगा।

"कज़्ज़ाक जान छुड़ाकर भागे, बिलकुल पंख लगाकर।"

"मरने के लिए तो कोई उतावला नहीं होता।"

"सप्त-ऋषि आसमान में ऊंचे चढ़ आये हैं। इसका मतलब यह है कि काफ़ी देर हो गई है... आ-ह-हा-हा! .."

दूसरी ओर, नदी पर किसी ने इस जम्हाई को कई बार दोहराया। स्तेपी पर, नदी पर और दूर के धुंधले-धुंधले जंगल पर मौन सा छाया हुआ था। इस मौन से शांति और विश्राम की अनुभूति होती थी।

"तुम्हारा नाम क्या है?"

"अलेक्सेई।"

"पितृ-नाम?"

"निकोलाइच।"

"ठीक, तो निकोलाइच, इस बजरे में चलकर सोयेंगे, वहां थोड़ा

सा पुआल भी है। अच्छा, सुनो, सोने के पहले पानी में तैर लिया जाये तो कैसा रहे?"

"बड़ा अच्छा ख़याल है।"

वे पानी के किनारे गये। नदी गाढ़े तेल की तरह चमकती हुई बड़े धीरे-धीरे बह रही थी। एक पतली रेखा उसे स्थिर और अंधेरे किनारे से अलग कर रही थी। दोनों कपड़े उतारने लगे कि सहसा ही उनके हाथ पेटी पर रखे के रखे ही रह गये और वे चट्टान की ओर मुड़े।

"क्या है?"

"ऐसा नहीं हो सकता..." छोटा पर चिंताभरा उत्तर मिला।

वे स्तेपी की ओर मुड़े। उधर से टापों की टपाटप सुनाई पड़ने लगी और लगा कि कोई घोड़ा दुलकी चाल से तेज़ी से इसी ओर बढ़ा आ रहा है। फिर उधर की ज़मीन कड़ी, ख़ुश्क और गूंजनेवाली मालूम हुई और न जाने क्यों इससे वे लोग बहुत बेचैन हो उठे। क्रुद्ध रात्रि में किसी अज्ञात पक्षी सा भय मंडराने लगा। पर, इस पर भी बूढ़े ने इस ओर कोई ध्यान न दिया और वह नाव के अंदर जाने क्या कुछ करता रहा।

"ओ-ओ!" लंबे आदमी ने पछतावे से आह भरते और अपनी पेटी बांधते हुए कहा। "मैंने कहा था कि इन्हें जाने न दो, पर, किसी ने नहीं सुना... अब लो, भुगतो... सुनो, घोड़े दौड़ते आ रहे हैं कि कहीं हम हाथ से न निकल जायें।"

"क्यों न हम नदी के उस पार चले चलें," अलेक्सेई ने दर्द भरे स्वर में कहा।

"तुम सब कोई फ़िक्र न करो, जो होगा ठीक ही होगा," बूढ़े ने ने शांत स्वर में कहा और जो काम कर रहा था, आराम से करता रहा।

ज़रा देर में आवाज़ें बिलकुल पास आ गईं, चट्टान के बिलकुल पास तक। इसके बाद वे धीमी पड़ीं, बाईं ओर मुड़ीं और नीचे को जानेवाले रास्ते की ओर बढ़ गईं। कुछ क्षणों तक बिलकुल सन्नाटा रहा और फिर घोड़े की टापों के नीचे बालू चरमराने लगी। दोनों के दोनों आंखें गड़ाये उसी दिशा में देखते रहे।

"उ-उफ़!.." लंबे आदमी ने खीझ से दोहराया। "हमें उन्हें जाने नहीं देना चाहिए था।"

घोड़े की काली आकृति धीरे-धीरे अंधेरे से उभरी और सामने आई।

दढ़ियल कज़्ज़ाक घोड़े को दुलकी दौड़ाता पास आया और अपने बेसब्र घोड़े की लगामें खींचता हुआ बोला :

"सुनो, लोगो... तुम अपना बजरा यहां से सीधे-सीधे दूसरी ओर ले जाओ और इस लड़के को जंगल में भगा दो। वह सूअर हम सौ कज़्ज़ाकों के कमांडर के पास शिकायत करने गया है... वह तो तुम्हें वहां, चोटी पर से ही गोली से उड़ा देना चाहता था, पर मैंने उससे कहा कि हमें तुम लोगों को ज़िंदा पकड़ना है। मैं साफ़-साफ़ उसकी ख़िलाफ़त नहीं कर सकता था, क्योंकि ऐसा करता तो लोग मुझ पर बाग़ियों को छिपाने का इल्ज़ाम लगा देते... देखना, तुम यहां से नहीं जाओगे तो सुबह पूरी पलटन की पलटन यहां आ जायेगी और तुम्हारी जानों के लाले पड़ जायेंगे..."

"ठीक है!.. एक-दो घंटे में स्टीमर आ जायेगा और फिर हमारा नाम-निशान तक यहां बाक़ी न रहेगा।"

"वाह, यह ठीक रहेगा... मैंने सोचा कि ख़ुद जाकर तुम्हें बता दूं... अच्छा, आदाब-अर्ज़!"

"तुम सदा फूलो-फलो... धन्यवाद, कज़्ज़ाक..."

"मेरी तरफ़ से भी तुम्हें शुक्रिया..." उसने अपने घोड़े की लगाम ज़रा खींची। "हमें भी यह सब अच्छा नहीं लगता। पर, हम करें क्या, यही सब चलता है। और, तुम्हारा वह बूढ़ा – बढ़िया आदमी है।"

घोड़ा दुलकी चाल से हवा हो गया। कुछ देर तक तो स्तेपी से वापस जाते टापों की टपाटप सुनाई देती रही, पर फिर सब कुछ दूरी में डूब गया। चट्टान की चोटी पर तारे निर्बाध झिलमिला रहे थे। तारे पूरे आसमान में छिटके थे और नदी की गहराइयों में से झांक रहे थे...

१६०७

पाठकों से

प्रगति प्रकाशन इस पुस्तक की विषय-वस्तु, अनुवाद और डिज़ाइन के बारे में आपके विचार जानकर अनुगृहीत होगा। आपके अन्य सुझाव प्राप्त करके भी हमें बड़ी प्रसन्नता होगी। कृपया हमें इस पते पर लिखिये:

प्रगति प्रकाशन,
ज़ूबोव्स्की बुलवार, २१,
मास्को, सोवियत संघ